UPNUL/2013/51445
अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित

ISSN 2277-5854
UGC CARE LISTED

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक
प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
वरिष्ठ शोध अध्येता,
(भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्)
पूर्व-समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र व
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 12 अङ्क 1

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, **2022**

सम्पादक :
प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

प्रो. एस. सुदर्शन शर्मा, पूर्व-कुलपति, श्री वेंकटेश्वर वैदिक विश्वविद्यालय, तिरुपति।

प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी, कुलाधिपति, महात्मा गान्धी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

प्रो. युगल किशोर मिश्र, पूर्व-कुलपति, ज.रा. राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र, प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी-221005

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, सदस्य, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, महरौली-बदरपुर रोड, नई दिल्ली-110062

प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस, कालिदास प्रोफेसर एवं पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

प्रो. शीतलाप्रसाद पांडेय, पूर्व-अध्यक्ष, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या, धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा, अध्यक्ष, वेद विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

प्रो. रवीन्द्रनाथ भट्टाचार्य, संस्कृत विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता-700073

प्रो. चन्द्रकान्ता राय, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी,-221002

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854
Peer Reviewed & referred UGC CARE LISTED

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor
Sri Dattātreyānandanāth
(Sitaram Kaviraj)

Editor
Prof. Rajendra Prasad Sharma
Sinior Fellow
(Indian Council of Philosophical Research)
Ex-Co-ordinator (UGC CAS)
Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 12 अङ्क 1

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2022

Editor :
Prof. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	
शोधलेख			
1.	वैदिक विज्ञान में दाम्पत्य भाव ही मुक्ति का मार्ग	आचार्य गुलाब कोठारी	1–3
2.	भारतीय वाङ्मय में शक्ति स्वरूप विमर्श	डॉ. आदित्य आंगिरस	4–12
3.	तन्त्रशास्त्रीय परम्परा में श्रीदुर्गासप्तशती : स्वरूप चिन्तन एवं विधि विमर्श	डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय	13–21
4.	प्रणवोपनिषद् में प्रणव साधना का आगमिक रहस्य	प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	22–28
5.	कलिसन्तरण उपनिषद् में प्रतिभासित आध्यात्मिक विचार	डॉ. शुभ्रजित् सेन	29–35
6.	वैष्णवागम में नाडीचक्र–विज्ञान	योगेश प्रसाद पाण्डेय	36–41
7.	धर्मविज्ञानस्य स्वरूपविमर्शः	प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय	42–48
8.	अहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमम्	विश्वावसुगौड प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड	50–60
9.	'जीवेम शरदःशतम्' की सिद्धि में आयुर्वेद की भूमिका	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	61–67

10.	प्रत्यभिज्ञादर्शन में आभासवाद	कीर्तिका भट्टाचार्य	68-72
11.	पातञ्जल योग शास्त्र में वर्णित समापत्तियों का भावागणेश की दृष्टि से समीक्षात्मक अनुशीलन	प्रो. संगीता विद्यालङ्कार	73-79
12.	वैदिक आग्नेयास्त्र	डॉ. हर्षदेव माधव	80-83
13.	सनातन परम्परा में प्रेतत्त्व भाव से मुक्ति का विधान	डॉ. तारेश कुमार शर्मा	84-92
14.	समकालीन दार्शनिक चिन्तन में मोक्ष की अवधारणा	प्रो. (डॉ.) सुशिम दुबे	93-104

सम्पादकीय

परम सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

इस अङ्क के प्रथम आलेख 'वैदिक विज्ञान में दाम्पत्य भाव ही मुक्ति का मार्ग' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पण्डित मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेदमनीषी आचार्य गुलाब कोठारी ने दाम्पत्य भाव के आत्माद्वयी के मिलन की वैज्ञानिक व तार्किक व्याख्या प्रस्तुत की है। स्त्री-पुरुष या योषावृषा का युगल भाव, भोग साधक बनने के साथ वैराग्य प्रधान संन्यास आश्रम को भी सुलभ कराता है। इसका वैज्ञानिक आधार स्पष्ट किया है। अत: सादर प्रणाम व अभिनन्दन।

द्वितीय आलेख 'भारतीय वाङ्मय में शक्ति स्वरूप विमर्श' में डॉ. आदित्य आंगिरस ने शक्ति का स्वरूप वैदिक, पौराणिक स्मार्त तथा तन्त्रागम साहित्य के आधार पर प्रामाणिक रूप में उपनिबद्ध किया है। यह सारगर्भित लेख शाक्त दर्शन की वैचारिक गहनता व गम्भीर दार्शनिकता को सुस्पष्ट करता है। अत: सादर साधुवाद।

तृतीय शोधपत्र 'तन्त्रशास्त्रीय परम्परा में श्रीदुर्गासप्तशती : स्वरूप चिन्तन एवं विधि विमर्श' में पाण्डुलिपि के विश्वविश्रुत अध्येता डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय ने दुर्गासप्तशती के स्वरूप एवं विधि विमर्श का महत्त्वपूर्ण कार्य कर अद्भुत सारस्वत योगदान दिया है। इन्होंने विश्व में उपलब्ध सभी पाण्डुलिपि (दुर्गासप्तशती विषयक) का पाठभेद जानने का अद्भुत शास्त्रीय मन्थन किया है। ऐसे मनीषी के चरणों में कोटिश: नमन।

चतुर्थ आलेख 'प्रणवोपनिषद् में प्रणव साधना का आगमिक रहस्य' में प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा ने भारतीय साधना के मूल आधार शब्दसृष्टि के बीज रूप प्रणव का औपनिषदीय विवेचन प्रस्तुत किया है जो स्वाध्याय रूपी जप साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रणव का स्वरूप श्रीविद्या साधकों के लिए जानना अतिमहत्त्वपूर्ण है।

पञ्चम आलेख 'कलिसन्तरण उपनिषद् में प्रतिभासित आध्यात्मिक विचार' में डॉ. शुभ्रजित् सेन ने चैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्रसारित एवं प्रतिष्ठापित नाम-साधना की आधारभूत एक पृष्ठात्मिका उपनिषद्-'कलिसन्तरण उपनिषद्' का मर्म तथा उद्देश्य स्पष्ट करने का महनीय प्रयास किया है। अत: सादर साधुवाद।

षष्ठ आलेख 'वैष्णवागम में नाडीचक्र-विज्ञान' में योगेश प्रसाद पाण्डेय ने देहस्थित नाडीचक्र की पञ्चरात्रीय विधियाँ स्पष्ट करने का महनीय कार्य किया है। अत: शुभाशीष।

सप्तम आलेख 'धर्मविज्ञानस्य स्वरूपविमर्शः' में प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय ने निगमागम सम्मत धर्म का स्वरूप तथा उसके मूल आधारों का विवेचन वैदिक, पौराणिक इतिहास ग्रन्थ तथा आगम ग्रन्थों के आधार पर किया है अत: सादर अभिनन्दन व प्रणाम।

अष्टम आलेख 'अहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमम्' में विश्वावसुगौड एवं प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड ने *चरकसंहिता* के आधार पर पशुबलि का निराकरण करते हुए केवल पशुओं का परित्याग ही उत्कृष्ट मार्ग के रूप में

शास्त्रीय आधारों पर सिद्ध किया है। पशुबलि से पाप तथा रोग की प्राप्ति होती है। इसे धार्मिक रीति के रूप में सर्वमान्य नहीं किया जा सकता है। इस महत्त्वपूर्ण विवेचन के लिए गौडद्वयी का सादर चरणस्पर्श व अभिनन्दन।

नवम आलेख ''जीवेम शरदःशतम्' की सिद्धि में आयुर्वेद की भूमिका' में डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने शतायु जीवन की वैदिक अवधारणा के पालन में आयुर्वेद की महती भूमिका तथा वैदिक दृष्टि को सप्रमाण प्रतिपादित कर महनीय योगदान दिया है। अत: सादर प्रणाम।

दशम आलेख 'प्रत्यभिज्ञादर्शन में आभासवाद' में कीर्तिका भट्टाचार्य ने आभासवाद की सैद्धान्तिक आधारशिला की विवेचन की है जिससे काश्मीर शैव दर्शन का गहन रहस्य सुस्पष्ट होता है। अत: हार्दिक साधुवाद।

एकादश आलेख 'पातञ्जल योग शास्त्र में वर्णित समापत्तियों का भावागणेश की दृष्टि से समीक्षात्मक अनुशीलन' में प्रो. संगीता विद्यालङ्कार ने योगसूत्र के भाष्यकार भावागणेश की व्याख्या के आधार पर समापत्तियों की गम्भीर एवं प्रौढ़ विवेचना प्रस्तुत की है। अत: सादर प्रणाम व अभिवादन।

द्वादश आलेख 'वैदिक आग्नेयास्त्र' में डॉ. हर्षदेव माधव ने वैदिक मन्त्र के द्वारा आग्नेयशास्त्र (मूंठ) की साधना विधि पर प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत कर अद्भुत कार्य किया है। अत: आचार्य श्री का सादर चरणस्पर्श।

त्रयोदश आलेख 'सनातन परम्परा में प्रेतत्त्व भाव से मुक्ति का विधान' में डॉ. तारेश कुमार शर्मा ने और्ध्वदैहिक श्राद्ध की प्रक्रिया तथा उससे प्रेतत्वभाव की मुक्ति का शास्त्रीय विधान सुस्पष्ट किया है। अत: सादर साधुवाद।

चतुर्दश आलेख 'समकालीन दार्शनिक चिन्तन में मोक्ष की अवधारणा' में प्रो. (डॉ.) सुशिम दुबे ने समकालीन भारतीय नव्य वेदान्त के चिन्तकों के मोक्ष सवरूप की गम्भीर मीमांसा की है। विवेकानन्द, गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगौर, श्री अरविन्द और सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के मत का सारांश एवं समीक्षा कर महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है अत: सादर नमन व अभिनन्दन।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

वैदिक विज्ञान में दाम्पत्य भाव ही मुक्ति का मार्ग

आचार्य गुलाब कोठारी

दाम्पत्य की भारतीय अवधारणा आत्मिक है, शारीरिक नहीं। ब्रह्म और माया ही शक्तिमान् और शक्ति रूप में विश्व निर्माण में प्रवृत्त होते हैं। ये दोनों परस्पर आश्रित हैं, अभिन्न हैं। इनका समन्वय ही पूर्णता है। दाम्पत्य का मूल है इन्द्र और पूषा का मिथुन भाव। सौर पुरुषात्मक प्राण इन्द्र है और पुष्टिकारक पार्थिव प्राण पूषा है। यही क्रमश: वृषा और योषा कहे जाते हैं। वेदों में *द्यावा पृथ्वी सूक्त* इन्हीं सूर्य और पृथ्वी के दाम्पत्य को इंगित करते हैं। वैदिक काल में विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कार माना जाता था। विवाह का अर्थ होता है—'विशिष्टो वाह: विवाह' अर्थात् विशिष्ट कर्त्तव्य को विवाह की संज्ञा दी गई थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में विवाह के बाद वर प्रार्थना करता है कि हे विश्वेदेव, हम दोनों के हृदय को सब प्रकार से प्रकाशयुक्त करें। मातरिश्वा धाता और देष्ट्री (सरस्वती) हम दोनों (वर-वधू) की बुद्धियों को परस्पर अनुकूल बनाएं-

समञ्नन्तु विश्वेदेवा: समापो हृदयानि नो।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नो। (*ऋग्वेद*, 10.85.47)

परस्पर अनुकूलता की प्रार्थना से एक यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि स्त्री-पुरुष कोई स्वतन्त्र प्राणी नहीं हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का अङ्ग हैं। एक ही सिद्धान्त पर सृष्टि के साथ जीते हैं, कार्य करते हैं। किसी की कोई अलग से मर्जी कार्य नहीं कर सकती। जिन सिद्धान्तों पर स्वयंभू और परमेष्ठी लोक तथा सूर्य और चन्द्रमा कार्य करते हैं, स्त्री-पुरुष भी इसी युगल व्यवस्था का अङ्ग है। एक अग्निरूप, दूसरा सोमरूप। अग्नि में सोम की आहुति।

चारों पुरुषार्थ को साधने वाले गृहस्थ आश्रम का महत्त्व वैदिक काल से आज तक उदात्त रूप में बना हुआ है। क्योंकि गृहस्थ आश्रम ही तीनों आश्रमवासियों का भरण-पोषण करता है। इस दृष्टि से विवाह भारतीय समाज का एक विशिष्ट संस्कार है। हमारी विवाह संस्था का लक्ष्य मात्र निर्माण ही नहीं है अपितु इसमें ही निर्वाण की भूमिका भी लक्षित है। दाम्पत्य रति (विवाह का स्वरूप) बहुत विशाल है। स्त्री का पत्नी स्वरूप वास्तव में 'शक्ति' रूपा है। पति-पत्नी अध्यात्म के चारों धरातलों पर (आत्मा-शरीर-मन-बुद्धि) साथ-साथ जीते हैं। आश्रम व्यवस्था के अनुरूप जीते हैं। यहाँ विवाह का उद्देश्य 'अभ्युदय और नि:श्रेयस' दोनों रहे हैं। जीवन के 25 साल पूर्ण होने पर विवाह के साथ ही 'गृहस्थाश्रम' की शुरूआत होती है। स्त्री का

पत्नी रूप में, पुरुष के जीवन में प्रवेश होता है। वह पुरुष के साथ जीने के लिए अपना सबकुछ छोड़कर ही आती है। नाम और पहचान भी। सौम्या है और अग्नि में पूर्ण रूप से आहूत होने आती है। फिर से माता-पिता के घर में जाकर जीना उसका स्वप्न नहीं होता। *उत्तरराम चरितम्* में भवभूति ने दाम्पत्य के जिस उदात्त स्वरूप का वर्णन किया वह अपूर्व है।

अद्वैतं सुखदु:खयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्,
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस:।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते।। (1/39)

अर्थात्—जो (दाम्पत्य प्रेम) सुख और दु:ख में एकरूप रहता है, सभी अवस्थाओं में अनुसरण करता है, जिसमें हृदय को शान्ति मिलती है, जिसमें आनन्द को वृद्धावस्था भी नहीं दूर कर सकती है, जो समयानुसार विवाह से मरण तक परिपक्व स्नेह के सारतत्त्व में स्थित रखता है, उस दाम्पत्य प्रेम का वह अनिर्वचनीय सौभाग्य किसी प्रकार से प्राप्त किया जाता है।

विवाह संस्कार में 'सप्तपदी भव' कहते ही नारी अपने पितृ गृह को छोड़कर पति की सर्वात्मना हो जाती है। यह वैवाहिक सम्बन्ध दो आत्माओं का ऐसा संगम है जिसे अलग नहीं किया जा सकता। इनमें कोई भेद नहीं रहता। वह पति की 'शक्ति' है। उसे दाम्पत्य रति-वात्सल्य, स्नेह, श्रद्धा, प्रेम का अभ्यास कराती है। पुरुष के अग्नि प्रधान जीवन में इन गुणों का स्थान कहां हो सकता है। उसे भी स्त्रैण बनाने का प्रयास करती है। यही तो पुरुष का वह निर्माण है, जो निर्वाण की पृष्ठभूमि है। जीवन के 25 वर्षों में पुरुष का निर्माण इस प्रकार करती है कि 50 वर्ष की उम्र में पुरुष के मन में एक विरक्ति का भाव भी पैदा कर देती है। उसके जीवन के निर्माण क्रम से बाहर होकर निर्वाण पथ पर खड़ा कर देती है। यहाँ से जीवन का तीसरा आश्रम—वानप्रस्थ शुरू हो जाता है। अब दोनों पूर्ण भी हैं और मित्र भी हैं।

वानप्रस्थ गृहस्थ कार्यों से मुक्ति का काल है। धारणा-ध्यान-समाधि-सेवा के अभ्यास का काल है। मन में विरक्ति का भाव यदि नहीं आया, तो व्यक्ति कभी वानप्रस्थ को सही रूप में सार्थक नहीं बना सकता। यह कार्य तो न स्वयं व्यक्ति ही कर सकता है, न कोई अन्य स्त्री ही कर सकती है। अन्य स्त्री तो आसक्ति ही पैदा करेगी, चंचलता पैदा करेगी। तब कहां ध्यान और कहां समाधि?

पत्नी वानप्रस्थ में पति के मन को प्राण और वाक् (सृष्टिक्रम) से हटाकर आनन्द-विज्ञान (मोक्ष साक्षी क्रम) से जोड़ती है। आध्यात्मिक दाम्पत्य रति को आधिदैविक देवरति में प्रेरित करती है। जीवन का लक्ष्य चार पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) ही तो है। कामनामुक्त व्यक्ति ही मोक्ष प्राप्त करता है। स्त्री या पुरुष दोनों ही अकेले रहकर कामनामुक्त नहीं हो सकते।

मानव का पुरुष भाग पूर्ण है, प्रकृति भाग अपूर्ण। स्त्री का प्रकृति भाग पूर्ण तथा पुरुष भाग अपूर्ण है। मानव पूर्णता के लिए स्त्री से सम्बन्ध की इच्छा रखता है। जो अपनी पूर्ण प्रकृति के समर्पण से मानव के प्राकृत भाव को पूर्ण कर दे। स्त्री भी पुरुषत्व की पूर्णता की इच्छा रखती है। मानव का पुरुष भाग आत्मा है, प्रकृति भाग शरीर है। दोनों मिलकर मानव है। आत्मा लोकी, शरीर लोक है। आत्मा और पार्थिव शरीर के मध्य इनके सहयोगी—विज्ञान-प्रज्ञान भाव (बुद्धि, मन) रहते हैं। मन का कारण चन्द्रमा है। अत: मन का शरीर के प्रति आकर्षण प्रकृतिसिद्ध है।

महत् लोक चिदात्मा की गर्भ भूमि है। सूर्य पृथ्वी और चन्द्रमा सहित इसकी परिक्रमा करता हैं। सूर्य बुद्धि का प्रभव है। अत: सौरी बुद्धि का आत्मा के प्रति आकर्षण भी प्रकृतिसिद्ध है। यानी कि बुद्धि आत्मा के साथ अर्द्धांग रूप तथा मन पार्थिव शरीर का अर्द्धांग बना है। इसी प्रकार प्रकृति भाग अर्द्धांग मन और शरीर से समन्वित हैं। नर-नारी दोनों ही आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर से चतुष्पर्वा हो रहे हैं। अत: दाम्पत्य भाग अष्टपर्वा हैं।

मानव में आत्मा-बुद्धि रूप पुरुष भाग पूर्ण है, तथा मन और शरीर भाग अपूर्ण है। प्रकृति स्त्री का स्वरूप इससे ठीक विपरीत है। अत: दोनों ही सुख के लिए एक-दूसरे के पूरक हैं। स्त्री चाहती है शान्ति, पुरुष स्त्री से चाहता है सुख। शान्ति ही स्थिर आनन्द है। सुख अस्थिर आनन्द है। आत्मा का अनुसरण करने वाली बुद्धि शान्ति का क्षेत्र है। सुख का क्षेत्र मन का अनुसरण करने वाला शरीर है। पुरुष भोक्ता, स्त्री भी भोग करने वाली है। स्त्री की शान्ति का कारक पुरुष का आत्म-बुद्धि स्वरूप ही है। मानव के सुख का कारण भी प्रकृति का मनोनुगत-शरीर भाव ही है। बिना शान्ति के सुख का मूल्य नहीं, बिना सुख के शान्ति अवरुद्ध है। यही भारतीय दाम्पत्य के स्वरूप का सन्देश है।

प्रधान सम्पादक,
राजस्थान पत्रिका समूह
केशरगढ़, जयपुर (राजस्थान)

भारतीय वाङ्मय में शक्ति स्वरूप विमर्श

डॉ. आदित्य आंगिरस

'तन्त्र क्या है और उसका वास्तविक रूप क्या है' इस प्रश्न के उत्तर की आशा में जिज्ञासु अनेक ग्रन्थों के पन्ने पलट डालता है, अनेक गुरुओं और बाबाओं की शरण लेता हुआ अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। परन्तु इस प्रश्न का वास्तविक एवं संतोषजनक उत्तर उसे मिल ही नहीं पाता है। प्रचलित मान्यतओं के अनुसार तन्त्र वास्तव में स्वयं को जानने की प्रक्रिया को माना जाता है जिसमें तन्त्र विज्ञान एवं साधना जीवन, ब्रह्माण्ड एवं प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों के अनसुलझे रहस्यों से पर्दा हटाने का प्रयास है जिसे *पातञ्जल योग सूत्र* 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानम्' कह कर बात करता है। साधना के इस मार्ग का सहारा लेकर प्राचीन काल से विभिन्न तांत्रिकों एवं मांत्रिकों द्वारा स्वयं एवं ईश्वर के दिव्य स्वरूप की खोजने का प्रयास किया गया है। अतः मन्त्र, योग, ध्यान आदि के रूप में जितनी भी प्रक्रियाएं एवं साधनाओं के विभिन्न प्रकार प्रचलित रही है, वह सब आत्मदर्शन के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इन सभी प्रकार की साधनाओं की प्रक्रियाएं तो इन सबमें सबसे अद्भुत एवं प्रभावपूर्ण रही हैं क्योंकि यही एक मात्र ऐसा आध्यात्मिक विज्ञान रहा है जिसकी पहुंच प्रकृति जन्य पंच भौतिक शरीर से लेकर परमात्मा प्रदत्त आध्यात्मिक चेतना तक, सभी अवस्थाओं में एक समान है। वस्तुतः यह साधना पद्धति आध्यात्मिक जगत् का एक ऐसा विशिष्ट विज्ञान रहा है, जहां व्याख्या एवं विश्लेषण टीका आदि को ज्यादा महत्त्व न दे कर केवल प्रयोग करने एवं स्वयं तन्त्र साधना की अनुभूत सत्य को जानने पर अधिक जोर दिया गया है। अतः यही कारण विशेष रहा है कि तांत्रिक साधकों ने अपने शिष्यों को उपदेश अथवा प्रवचन देने की अपेक्षा सीधे-सीधे प्रयोगों की शुरुवात करने और स्वयं उन दिव्य क्षमताओं को प्राप्त कर लेने प्रेरित करते हैं। अतः तन्त्र एक महाविज्ञान है जिसमें साधक अपने वास्तविक रूप को पहचानने का प्रयास पिछले कई जन्मों से करता आ रहा होता है, क्योंकि साधक वर्ग ऐसा माना जाता है कि स्वयं के वास्तविक रूप को जानकर ही उसके मूल स्रोत तक पहुंचा जा सकता है जहां से जीवन का अवतरण हुआ है। ऐसे में साधक जीवन को जानते हुए जीवन से सम्बन्धित उन मूल समस्याओं के कारणों को जानने का प्रयास करता जो दुःख पीड़ा अवसाद आदि कि आधार भूमि हैं एवं जीवन में साधारण मनुष्य को पग-पग पर कष्ट पहुंचाते हैं। समय-असमय प्रकट होकर ये समस्याएं नाना प्रकार के अवसाद एवं दुःख देते हैं। अतः महत्त्वपूर्ण यहाँ यह है कि जीवन के उस वास्तविक सत्य को जाना जाय जो शाश्वत नित्य एवं दिव्य आनन्द का न केवल स्रोत है अपितु जिसे जानने मात्र से साधक इस जीवन के पश्चात् स्वर्गापवर्ग एवं मोक्ष का अधिकारी बनता हैं। ऐसे में तन्त्र साधना ही एक मात्र ही त्वरित साधन है जिसके द्वारा साधक

वर्ग इस संसार में अनेकानेक भोगों को भोगते हुए अन्त में मोक्ष की प्राप्ति भी कर सकते हैं। अत: प्राचीन तन्त्र विद्या एक पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र विधा है, जिसमें साधक उस तत्त्व के साथ श्रद्धा भाव से जुडा है जो उसके अस्तित्त्व का आधार है एवं वही तत्त्व संपूर्ण रूपेण साधक को भोग एवं मोक्ष प्रदान करने वाला है। इन्हीं सन्दर्भों में कहा भी गया है—'बिना ह्यागममार्गेण नास्ति सिद्धिः कलौ प्रिये।' अर्थात् बिना तन्त्र मार्ग का अनुसरण किये, कलियुग में सिद्धि को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। *योगिनी तन्त्र* में यहाँ तक कहा गया है कि वैदिक मन्त्र सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में सफल थे, किन्तु वे अब कलियुग में मृतक समान हैं अत: वे विषरहित सर्पों के समान निवीर्य हो कर रह गये हैं। ऐसे में जीवन यापन का सार्वभौमिक एवं श्रेष्ठतम मार्ग यही है कि साधक उस दिव्य शक्ति के विषय में चिन्तन एवं मनन करे जो स्वयं ही ईश्वर में सन्निहित शक्ति है जो साधक वर्ग पर मातृ रूप में सदा ही कृपा करने में उद्यत एवं प्रयत्नशील है।

यदि हम तन्त्र साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो इस साधना पद्धति के मूल को भुला कर मध्यकालीन धर्म साधनाओं के आधार पर वर्तमान समय में प्रचलित ग्रन्थों में बहुत कुछ अनाप-शनाप जोड़कर इसे अत्यन्त भ्रामक और डरावना बना दिया गया है शाबर तन्त्र अथवा भैरवी सिद्धि जनजातीय जन्य तन्त्र आदि इन्हीं सन्दर्भों में इसका साक्षात् उदाहरण है। हमें तन्त्र विज्ञान के ग्रन्थों में लगभग 64 प्रकार की तन्त्र विधाओं का उल्लेख मिलता है जो कि कालान्तर में लुप्त होती चली गयीं। वर्तमान काल में इसकी दो-चार विधायें ही शेष रह गयीं हैं। परन्तु वर्तमान में तन्त्र साहित्य में केवल दो मार्ग ही प्रसिद्ध है जिन्हें हम वाममार्ग और दक्षिणमार्ग के रूप में जानते हैं। दोनो वर्गों के साधक पंचमकार का प्रयोग करते हैं परन्तु प्रकार भेद होने के कारण साधना भेद इन्हीं सन्दर्भों मे स्वत: ही द्रष्टव्य होजाता है। वाममार्ग का साधक जहां पंचमकार के तामसिक रूप का प्रत्यक्ष प्रयोग करता है तो वहीं दूसरी ओर दक्षिणमार्ग का साधक इन सब वस्तुओं को हेय मानते हुए आन्तरिक वस्तुओं का प्रयोग करके अपनी साधना सम्पन्न करता है। अत: तन्त्र भारतीय उपमहाद्वीप की एक वैविधतापूर्ण एवं सम्पन्न आध्यात्मिक परिपाटी है जिसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। समय के साथ यह परिपाटी अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरी है और सम्प्रति अत्यन्त दकियानूसी विचारों से लेकर बहुत ही प्रगत विचारों का सम्मिश्रण है। तन्त्र अपने विभिन्न रूपों में भारत, नेपाल, चीन, जापान, तिब्बत, कोरिया, कम्बोडिया, म्यांमार, इण्डोनेशिया और मंगोलिया में विद्यमान रहा है। भारतीय तन्त्र साहित्य विशाल और वैचित्र्य साहित्य है। यह व्यापक होने के साथ साथ प्राचीन भी है तथा वैदिक वाङ्मय से भी किसी किसी अंश में इसकी विशालता अधिक है। *चरणव्यूह* नामक ग्रन्थ से वैदिक साहित्य का किंचित् परिचय मिलता है, परन्तु तन्त्र साहित्य की तुलना में उपलब्ध वैदिक साहित्य एक प्रकार से साधारण मालूम पड़ता है। तांत्रिक साहित्य का अति प्राचीन रूप लुप्त हो गया है। परन्तु उसके विस्तार का जो परिचय मिलता है उससे अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल में वैदिक साहित्य से भी इसकी विशालता अधिक थी और वैचित्र्य भी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि परम अद्वैत विज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण और विवरण जैसा तन्त्र ग्रन्थों में है, वैसा किसी शास्त्र के ग्रन्थों में नहीं है। साथ ही साथ यह भी सच है कि

उच्चाटन, वशीकरण प्रभृति क्षुद्र विद्याओं का प्रयोग विषयक विवरण भी तन्त्र में मिलता है। स्पष्टत: वर्तमान हिंदू समाज वेद-आश्रित होने पर भी व्यवहार-भूमि में विशेष रूप से तन्त्र द्वारा ही नियंत्रित है। तन्त्र के अन्तर्गत विविध प्रकार के विचार एवं क्रियाकलाप आ जाते हैं जो मनुष्य के लिये निश्रेयस प्रतिपादित करते हैं।

यदि साहित्यिक दृष्टि से देखा जाये तो तन्त्र शब्द का अर्थ अत्यन्त विस्तृत है क्योंकि व्याकरण की दृष्टि से इसका अर्थ हैं—विस्तारपूर्वक तत्त्व को अपने अधीन करना क्योकि तन्त्र शब्द 'तन्' और 'त्र' इन दो धातुओं से मिलकर बना है एवं 'तन्' का व्याकरण संबंधी अर्थ विस्तार करने के सम्बन्ध में है। इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर 'तन्' पद से प्रकृति और परमात्मा तथा 'त्र' से स्वाधीन बनाने के भाव को ध्यान में रखकर तन्त्र का अर्थ—देवताओं के पूजा आदि उपकरणों से प्रकृति और परमेश्वर को अपने अनुकूल बनाने के सन्दर्भ में अर्थ किया गया है। अत: इस मत के अनुसार परमेश्वर की शक्ति की उपासना के लिए जो उपयोगी साधन है, वे भी तन्त्र ही कहलाते हैं। परन्तु रूढ एवं व्युत्पति मूलक अर्थों में 'तन्यते विस्तारयते ज्ञानं अनेन इति तन्त्रम्' अर्थात् ज्ञान को इसके द्वारा तानकर विस्तारित किया जाता है, यही तन्त्र है। प्राचीन तन्त्र विद्या में साधना के अनेक प्रकार दिखलाए गये हैं, जिनमे देवताओं के स्वरूप, गुण, कर्म, आदि के चिन्तन की प्रक्रिया बतलाते हुए पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम तथा स्तोत्र, इन पांच अंगों वाली पूजा का विधान किया गया है। पटल : इसमें मुख्य रूप से जिस देवता का पटल होता है, उसका महत्त्व, इच्छित कार्य के शीघ्र सिद्धि के लिए जप, होम का सूचन तथा उसमें उपयोगी सामग्री आदि का निर्देश होता है जिसके साथ ही यदि मन्त्र शापित है, तो उसका शापोद्धार भी दिखलाया जाता है। तांत्रिक साधना के पांच अंगों पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम एवं स्तोत्र से पूर्ण शास्त्र या ग्रन्थ ही तन्त्र ग्रन्थ या तन्त्र शास्त्र कहलाता है। कलियुग में तन्त्र ग्रन्थ के अनुसार की जाने वाली साधना ही शीघ्र फलवती होती है। इस प्रकार देखा जाए तो कलियुग में सिद्धि एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए तन्त्र ग्रन्थ या तन्त्र शास्त्र का अनुसरण ही अन्तिम मार्ग है।

वेदों, आगम-शास्त्रों, उपनिषदों तथा पुराणों में शक्ति की महत्ता एवं महिमा का गुणगान किया गया है। शक्ति का प्रमुख लक्षण केवल मात्र स्पन्दन है। स्पन्दन गति समाप्त होते ही जीवन समाप्त हो जाता है। शास्त्रों में परमेश्वर को शक्तिमान् तथा परमेश्वरी को उसकी शक्ति बताया गया है। जिस प्रकार अग्नि का महत्त्व तभी तक है जब तक उसके अन्दर दाहिका-शक्ति विद्यमान रहती है उसी प्रकार परमेश्वर भी तभी तक शक्तिसम्पन्न रह पाता है जब तक उसके अन्दर शक्ति विद्यमान रहती है; *योगवासिष्ठ* नामक उत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ में ब्रह्म को सर्वशक्तिसम्पन्न मानते हुए उसकी प्रमुख तीन शक्तियों ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, तथा क्रियाशक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि यही शक्ति समस्त ब्रह्माण्ड की रचना, पालन तथा संहार करने का कार्य करती है। यही शक्तियाँ समस्त जड़-चेतन पदार्थों के अन्दर नाना रूपों तथा तथा नामों से विद्यमान है। संसार की रचना में स्पन्दशक्ति, जल में द्रवशक्ति, अग्नि में दाहकशक्ति, आकाश में शून्यशक्ति, चेतनशरीर में चितशक्ति तथा वीर पुरूषों में वीर्यशक्ति विद्यमान रहती है। अत: गाणपत्यों के गणपति, शैवों के शिव, बैष्णवों के विष्णु तथा सौरों के सविता (सूर्य) ही शाक्तों की त्रैलोक्यसुन्दरी महाशक्ति है। जिस परम-तत्त्व को

वेद मंत्रों ने पुलिंग शब्द से, वेदान्तियों ने नपुंसकलिंग से प्रतिपादित किया है, शाक्त-धर्म प्रेमियों ने सत्-चित्-आनन्द स्वरूपा उसी महाशक्ति को स्त्री-लिंग मानकर प्रतिष्ठित किया है। शाक्त तांत्रिक मार्ग से सम्बन्धित कुछ प्रमुख तन्त्र ग्रन्थ हैं—*महानिर्वाण तन्त्र, कुलार्णव तन्त्र, मुण्डमाला तन्त्र, योगिनी तन्त्र, भुवनेश्वरी स्तोत्र, भुवनेश्वरी रहस्य, श्रीविद्यार्थदीपिका, कामकला विलास* इत्यादि। गौडपादाचार्य का नाम इन्हीं सन्दर्भों में उल्लेखनीय है। उनके द्वारा रचित *'सुभगोदय स्तुति'* एवं *'श्रीविद्यारत्न सूत्र'* तन्त्र जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस के अतिरिक्त *'शिवार्चन चंद्रिका', 'क्रमरत्नावली', 'भैरवार्चापारिजात', 'द्वितीयार्चन कल्पवल्ली', 'काली-सपर्या-क्रम-कल्पवल्ली', 'पंचमेय क्रमकल्पलता', 'सौभाग्य रत्नाकर', 'सौभाग्य सुभगोदय', 'ज्ञानदीपिका'* और *'चतु:शती टीका' 'अर्थरत्नावली'* आदि ग्रन्थों का भी प्रणयन इन्हीं सन्दर्भों को ध्यान में रख कर किया गया है जहां ईश्वर की अन्तर्निहित शक्ति की मातृका रूप में पूजा की गई क्योंकि—

शिव:शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि॥
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्च्यादिभिरपि।
प्रणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्य: प्रभवति॥ — *सौन्दर्यलहरी,* 1

अत: वह ईश्वर में सन्निहित शक्ति ही मातृका रूप में सर्वतोभावेन पूज्या है क्योंकि परम शिव भी उस शक्ति के न रहने पर शव मात्र ही हैं। वह शक्ति स्वयं ही ब्रह्मस्वरूपिणी है जिसकी सत्ता शून्य एवं अशून्य में एक बराबर है—"साब्रवीत-अहं ब्रह्म स्वरूपिणी।मत्त: प्रकृति पुरुषात्मकं जगत्।शून्यं चाशून्यं च॥" एवं वही संपूर्ण संसारकी आधार शक्ति है। यद्यपि हिन्दू धर्म मे अनेक देवियो की पूजा का विधान है तथा सभी देवियो की उपासना से वांछित फल की प्राप्ति होती है परन्तु ईश्वर की शक्ति का मां के रूप में स्मरण एवं चिन्तन करने मात्र से भक्तों के समस्त रोगों, कष्टों, एवं कमियों को दूर कर उन्हें स्वस्थ, निर्भय, सुखी एवम सानन्द बना देती है। वास्तव में सभी देवी देवताओं की मूल एवं आधार केवल एवं केवल यही शक्ति है। अत: देवी आद्यशक्ति को ही देवी दुर्गा या अम्बिका या मातृका या जगदम्बा को ही सर्वेश्वरी और त्रिदेव जननी कहा गया है एवं वेद, उपनिषद्, पुराण सहित अन्य शास्त्रों में उनके स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया गया है।शक्ति का स्वरूप विभिन्न शास्त्रों में शक्ति शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। आगम-शास्त्रों में इसे पराशक्ति कहा गया है जो सत्, चित्त् आनन्द स्वरूपा ब्रह्म है। वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों में इसी शक्ति को महादेवी, भगवती, ईश्वरी तथा मूलप्रकृति आदि नामों से भी जाना गया है। "परास्यशक्ति र्विविधैव श्रूयते-स्वाभाविकी ज्ञान वल क्रिया च॥" अत: भक्तजन परमेश्वर (परब्रह्म) के इस परमतत्त्व की निर्गुण, सगुण, साकार, निराकार, स्त्री रूप, पुरुषरूप तथा विभिन्न अवतारों के रूप में उपासना करते हैं।

स्त्री रूपं वा स्मरेद्देवि-पुंरूपं वा विचिन्तयेत्। अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दविग्रहम्॥

अत: ऐसे में भारतीय वाङ्मय में परा शक्ति के स्वरूप पर दृष्टिपात करना आवश्यक बन जाता है।

वैदिक साहित्य में श्रीविद्या का स्वरूप

वैदिक साहित्य में श्रीविद्या के सम्बन्ध में व्यापक रूप से चिन्तन एवं मनन् किया गया है। जहां एक ओर वैदिक सूक्तों में *श्रीसूक्त* अथवा *लक्ष्मी सूक्त*, *पृथिवी सूक्त* आदि के माध्यम से श्री विद्या के माध्यम से साधक उस परम शक्ति की उपासना एवं प्रार्थना करता हुआ उस दिव्य शक्ति का आह्वान करता है वहीं दूसरी ओर *ऋग्वेद* में उस दिव्य शक्ति को अदिति कहा गया है जो समस्त ब्रह्माण्ड का आधार है। शक्ति का यह स्वरूप समस्त देवताओं, गन्धर्वों, मनुष्यों, असुरों तथा समस्त प्राणियों की माता हैं तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग में रहती हैं। *ऋग्वेद* में श्री भगवती अपने बारे में बताते हुए कहती है कि "मैं ब्रह्माण्ड की अधीश्वरी हूँ। मैं एक होते हुए भी नाना रूपों में विचरण करती हूँ। मैं सर्वथा स्वतन्त्र हूँ। मैं किसी के अधीन नहीं हूँ।" (ऋग्वेद-दसवां मण्डल-सूक्त-125 अहं रूद्रेभि वसुभिश्चरामि-अहं मित्रावरूणा-अहं इन्द्राग्नी।) एवं वे ही विष्णु ब्रह्म प्रजापति को धारण करती हैं। "अहं विष्णुमुरूक्रम ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि॥" (ऋग्वेद-अष्टक 8/7/11) वहीं देवी अथर्वशीर्ष (मूल एवं प्रामाणिक ग्रन्थ) के श्लोकसंख्या-2 से श्लोकसंख्या-25 तक देवी के विभिन्न स्वरूपों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए बताया गया है कि उनके वास्तविक स्वरूप को ब्रह्मादि त्रिदेव भी नहीं जानते हैं—"यस्या स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति-तस्मादुच्यते अज्ञेया एकैव विश्वरूपिणी-तस्मादुच्यते नैका यस्या जननं नोपलभ्यते-तस्मादुच्यते अजा॥" अर्थात् शक्ति अज्ञेय है, एक है, अजा है, अलक्ष्या है) देवताओं के पूछने पर महादेवी ने बताया कि वह ब्रह्मस्वरूपा है तथा उनसे ही समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई है। वही विज्ञान तथा अविज्ञानरूपिणी हैं ब्रह्म भी हैं। अब्रह्म भी हैं। वह वेद भी हैं। अवेद भी हैं। वही सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हैं। वह वेदों द्वारा वन्दित तथा पाप नाशिनी देवमाता अदिति या दक्षकन्या सती के रूप की हैं। वही आठवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, असुर, पिशाच, यक्ष और सिद्ध भी हैं। आत्मशक्ति हैं। विश्व को मोहित करने वाली हैं तथा श्रीविद्यास्वरूपिणी महात्रिपुरसुन्दरी है।

वहीं दूसरी ओर यदि समस्त औपनिषदीय साहित्य को देखें तो हम यह देखते हैं कि विभिन्न उपनिषदों में शक्ति तत्त्व के स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है। इन के अनुसार केवल पराशक्ति ही समस्त कारणों की संचालिका हैं। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में पराशक्ति ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया आदि रूपों से अनेकों प्रकार की है। "परास्यशक्ति र्विविधैव श्रूयते-स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया च।" *केनोपनिषद्* में शक्ति बिना स्पर्श, रूप तथा अव्यय के है "अशब्दम् अस्पर्शमरूपमव्ययम् तथा॥" अत: शक्ति को वाणी से अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं—"यद्वाचा नभ्युदितं" *माण्डूक्य उपनिषद्* में चितिशक्ति मन, वाणी तथा समस्त इन्द्रियों के माध्यम से भी प्राप्त नहीं है "यतो वाचो निवर्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह" एवं वाणी उसका वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ है। *तैत्तरीय उपनिषद्* में चित्शक्ति से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी में जीते हैं तथा अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति॥" *बृहदारण्यक उपनिषद्* में इन्हीं सन्दर्भों मे वर्णन आता है कि शक्ति के निःश्वास से ही वेद उत्पन्न हुए हैं "निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदः॥" वहीं *श्वेताश्वतर उपनिषद्* ने ध्यानावस्थित होकर यह अनुभव किया कि पराशक्ति ही

वास्तव में समस्त कारणों का संचालन करती है "यः कारणानि निखिलानि तानि"। अत: मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म है कि वह उसी की उपासना करे। संभवत: आचार्य शङ्कर ने इसी तथ्य के अनुभव के आधार पर *सौन्दर्यलहरी* में कहा कि शक्ति की महिमा का गुणगान तो हजार मुखवाले शेषनाग भी नहीं कर सकते। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि आचार्य शङ्कर द्वारा अपने ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में महाशक्ति की अनन्त महिमा का जितनी उत्कृष्ट रूप में गुणगान किया गया है वैसा भक्ति साहित्य के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है। इस ग्रन्थ में आचार्य शङ्कर ने न केवल शिव-शक्ति का परस्पर अभेद सम्बन्ध बताया है वरन् शक्ति की श्रेष्टता का कुशलता प्रतिपादन भी किया है। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि शक्ति के पलक बन्द करते ही समस्त ब्रह्माण्ड प्रलय से नष्ट हो जाता है तथा उनके पलक खोलते ही ब्रह्माण्ड पुनः अस्तित्व में आ जाता है "निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती॥" अत: "हे मां! आपकी स्तुति करने में तो चार मुखवाले ब्रह्मा, पांच मुखवाले शिव, छः मुखवाले कार्तिकेय ही नहीं वरन् एकहजार मुंह वाले शेषनाग भी असमर्थ हैं फिर एक मुखवाला मुझ जैसा सामान्य जीव आपकी अनन्त महिमा का गुणगान करने का दुःसाहस कैसे कर सकता है—

भवानि स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः, न षड्भिः सेनानी दशशतमुखैरप्यहिपतिः॥

वे शक्ति की महिमा का गुणगान करते हुए कहते हैं "हे मां! आपके श्मशानवासी पति शिव के पास तो कुछ भी भक्तों को देने के लिए नहीं है। फिर भी वे महादेव की पदवी इसीलिए पा सके हैं कि आपने उनके साथ विवाह किया है।"

यदि पुराण साहित्य की बात करें तो समस्त पुराण साहित्य परा शक्ति को ही समस्त ब्रह्माण्ड का आधार मानते हैं। पुराणों के अनुसार ब्रह्मवैवर्त पुराण में भगवान् श्री कृष्ण द्वारा अपने श्रीमुख से इसी शक्ति का गुणगान करते हुए उन्हें विभिन्न उपाधियों से विभूषित किया गया है "त्वमेव सर्व जननी-मूल प्रकृति ईश्वरी त्वमेवाद्या सृष्टि विधौ-स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका परब्रह्म स्वरूपा त्वं-सत्या नित्या सनातनी सर्वबीज स्वरूपा च-सर्वपूज्या निराश्रया॥" वहीं *मार्कण्डेयपुराण* (दुर्गासप्तशती)-मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती के जिन अध्यायों में महाशक्ति की स्तुतियाँ की गई हैं उन में शक्ति की महिमा का गुणगान किया गया है। "आधारभूता जगत्स्त्वमेका, त्वयैतत् धार्यते विश्वम्। सृष्टिस्थितिविनाशानां-शक्तिभूते सनातनि। हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै:" (आप समस्त जगत् का कारण हो।आप इस ब्रह्माण्ड की आधार हैं। आप इस चराचर जगत् की रचना, पालन तथा संहार करती हैं। अत: आप ही मूल-प्रकृति रूपा है। त्रिगुणात्मिका है। परमब्रह्मस्वरूपा है। सर्वपूज्या है। वहीं *देवीभागवत* के सातवें स्कन्ध में भगवती अपने पिता नगाधिराज हिमालय को अपने प्राकट्य का विवरण देते हुए कहती हैं—

अहमेवास पूर्वं च, नान्यत् किञ्चिन्नगाधिप।
तदात्मरूपं चित्संवित्-परब्रह्मैकनामकम् ।।
स्वशक्तेश्च समायोगादहं बीजात्मतां गता।
स्वाधारावरणात् तस्या-दोषत्वं च समागतम्।।

हे नगाधिराज हिमालय! सृष्टि से पूर्व मेरे अलावा कहीं कोई भी नहीं था। तब मैं ही परब्रह्म थी। अपने ही आधार (बिम्ब) शिव का वरण करके मुझमें दोष आ गया और मैं ;"एकोहं बहुस्याम्॥" की कामना करके सृष्टि रचना में निमग्न हो गई। वहीं दूसरी ओर *वह्वृचोपनिषद्* के अनुरार सृष्टि से पूर्व केवल देवी ही थी। पराशक्ति सर्वव्यापी तथा सत्, चित् एवं आनन्दरूपा है। पराशक्ति, चित्शक्ति, परमेश्वर, ब्रह्माण्डजननी तथा आद्याशक्ति, ब्रह्म तथा आत्मा सब इसी के नाम हैं। वह आद्या इसीलिए कही जाती है कि इनसे पहले कोई नहीं था। देवी ने ही ब्रह्माण्ड की रचना की। ब्रह्मा, विष्णु, महेश समेत समस्त प्राणिमात्र को जन्म दिया। ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है सब देवी में ही ओत-प्रोत है।

सैव जगदण्डमसृजत्। ब्रह्मा अजीजनत्।
विष्णुरजीजनत्। रुद्रोअजीजनत्।
सर्वशक्ति अजीजनत्। सैषा शाम्भवीविद्या।
सैवात्मा। सच्चिदानन्दलहरी।
प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते।

यह शक्ति स्वयं प्रकाशित होती है। यही आत्मा है। यही शक्ति नित्य-निर्विकार परमात्मा की चेतना की द्योतक है। यही महात्रिपुरसुन्दरी है। इसी पराशक्ति को दशमहाविद्याओं यथा काली, तारा, त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, छिन्नमस्ता, बगुलामुखी, मातंगी तथा कमला एवं प्रत्यंगिरा, दुर्गा, चंडिका, गायत्री, सावित्री, सरस्वती तथा ब्रह्मानन्दकला के रूप में भी पूजा जाता है।

वहीं *मत्स्य* और *विष्णुधर्मोत्तार* पुराण में मातृकाओं के जन्म की कथा विस्तृत रूप में दी गयी है। हिरण्याक्ष राक्षस का पुत्र अंधक शिव का परमभक्त था। शिव ने उसे वर प्रदान किया था 'रणभूमि में तुम्हारे लहू के हर एक बूँद से नया अंधकासुर उत्पन्न होगा, जिसे कारण तुम युद्ध में अजेय होंगे। शिव के इस आशीर्वाद के कारण, सारी पृथ्वी अंधकासुरों से त्रस्त हुयी। फिर इन अंधकासुरों का लहू चुसने के लिए शिव ने ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि सात मातृकाओं का निर्माण किया। इन्होने अंधकासुर का सारा लहू चूस लिया, एवं तत्पश्चात् शिव ने अंधकासुर का वध किया। अंधकासुर का वध होने के पश्चात्, शिव के द्वारा उत्पन्न सात मातृका पृथ्वी पर के समस्त प्राणिजात का लहू चूसने लगी। फिर उनका नियंत्रण करने के लिए, शिव ने नृसिंह का निर्माण किया, जिसने अपने जिह्वादि अवयवों से घंटाकर्णा, त्रैलोक्यमोहिनी, आदि बतीस मातृकाओं का निर्माण किया। इन बतीस मातृकाओं ने सात मातृकाओं को शान्त किया। नरसिंह ने मातृकाओं को दुनिया को नष्ट करने बजाय उस की रक्षा करने की आज्ञा दी, जिस से वे माता के रूप में पूजित हो जायें। इस तरह मातृकायें एक तरफ देवताओं की युद्ध में मदद करने वाली शक्तियाँ हैं, जो शत्रु-संहारक की भूमिका निभाती हैं, दूसरी ओर पालनकर्ता वाला रूप भी हैं।

यदि आगम शास्त्र की बात करें तो हम देखते हैं कि विभिन्न आगम-शास्त्रों में देवी के विभिन्न स्वरूपों (साकार एवं निराकार) का प्रतीकात्मक रूप से वर्णन किया गया है। दश महाविद्याओं के अन्तर्गत प्रथम महाविद्या श्री आद्या (काली) के साकार स्वरूप का जो विवरण उपलब्ध है उसके अनुसार काली का रूप अत्यन्त भयंकर एवं डरावना है। उनका वर्ण काला है परन्तु शक्ति के उपासक उन्हें परम रूपवती तथा करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान देखते हैं। वह दिगम्बरा हैं परन्तु भक्तों को समस्त ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। उनका निवासस्थान श्मशान है जहां पहुंचते ही स्वतः वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। काली मुक्तकेशी हैं। शवासना हैं। मुण्डमालावृतांगी हैं। खड्ग एवं मुण्डधारिणी है। काली का यह विशिष्टरूप भक्तों के मन में वैराग्य तथा अद्वैतभावना उत्पन्न कर देता है। शव-रूप महाकाल-हृदयाम्भोज वासिनी सप्त प्रेतैक पर्यंक-शवहृद् राजते शिवा (महाकाल रूपी शव के हृदय में तथा सप्त प्रेतों वाले मंच में विराजमान है) विशुद्धा परा चिन्मयी स्वप्रकाशानन्दरूपा जगद्व्यापिका च (मां काली अत्यन्त विशुद्ध, स्वयं प्रकाशमान्, सच्चिद्आनन्दरूपा तथा समस्त संसार में व्याप्त है श्री आद्या का पुरुषरूप ही श्री कृष्ण है। वह स्वयं ही कहती हैं ममैव पौरूषं रूपं-गोपिकाजन मोहनम् (गोपियों का मनमोहने वाला मेरा पुरुषरूप श्री कृष्ण है। कदाचिदाद्या ललिता- पुंरूपा कृष्णविग्रहा;। कदाचिदाद्या श्री तारा-पुंरूपा राम विग्रहा॥ कभी त्रिपुरसुन्दरी श्री कृष्ण का रूप धारण कर लेती हैं तथा कभी तारा श्री राम का रूप धारण कर लेती हैं। अत: श्री काली एवं श्री कृष्ण में मूलतः कोई भेद नहीं है। श्री कृष्ण के अधिकांश मंत्रों में की ही प्रधानता है। शक्ति-ग्रन्थों में श्री विष्णु के दश अवतारों की दश महाविद्याओं से एकरूपता सिद्ध की गई है, यथा—

कृष्णस्तु कालिका साक्षात्-राम मूर्तिश्च तारिणी।
धूमावती वामन: स्यात्कूर्मस्तु वगुलामुखी।।

अर्थात् कालिका ही पुरुषरूप में श्री कृष्ण हैं। तारा-राम हैं। भुवनेश्वरी-वराहरूप हैं। त्रिपुरभैरवी-नृसिंह, धूमावती-वामन, छिन्नमस्ता-परशुराम, लक्ष्मी-मत्स्य, वगुलामुखी-कूर्म, मातंगी-बौद्ध तथा त्रिपुरसुन्दरी-कल्कि रूप में है।विभिन्न आगम-ग्रन्थों में महाशक्ति का कुण्डलिनी स्वरूप, विद्युत स्वरूप तथा प्रकाश रूप में भी गुणगान किया गया है। कुण्डलिनी रूप में उसे शक्तिः कुण्डलिनी समस्त जननी शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रय वपु तथा मूलोन्निद्र भुजंगराज सदृशी माना गया है। प्रकाश रूप में उसे 'प्रकाशमाना प्रथमे प्रयाणे-प्रतिप्रयाणे अमृतायमानाम्' बताया गया है। विद्युत रूप में उसे सौदामिनीसन्निभां तडित्कारां शिवां एवं तडित्पुंजभाभास्वरांगीं आदि दिव्य उपमाओं से विभूषित किया गया है। वस्तुत: आगम-शास्त्र शक्ति-तत्त्व एवं शक्ति-उपासना एवं श्री उपासना सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट, अत्यन्त विशद, अप्रतिम एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। इनके अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पूर्व भी केवल एक मात्र देवी ही थीं जो अकेली ही प्रकट हुई थी। "देवी ह्येकाग्रे आसीत्"। उस समय तब कहीं कुछ भी नहीं था। अतः देवी को केवल अपनी ही छाया दिखाई दी। "एतस्मिन्नेव काले तु, स्वबिम्बं पश्यति शिवा" इसी स्वबिम्ब (छाया) से माया बनी जिससे मानसिक शिव हुए "तद्बिम्वं तु भवेन्माया-तत्र मानसिक शिवः॥" सृष्टि रचना हेतु देवी ने इसी मानसिक शिव को अपने पति के रूप में स्वीकार करके सृष्टि रचना की।

तं विलोक्य महेशानि सृष्ट्युत्पादनकारणात्।
आदिनाथं मानसिकं स्वभर्तां तु प्रकल्पयेत्।।

यद्यपि देवी ने अपने पति आदिनाथ महादेव को सृष्टि रचना हेतु अपने मन से ही उत्पन्न किया तथा उन्हें अपने पतिरूप में स्वीकार करके सृष्टि रचना की परन्तु वे कभी भी उनके अधीन नहीं रही बल्कि शिव ही उनके अधीन रहते हैं। इसके अनेकों प्रमाण आगम ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। *श्री ललिता सहस्रनाम* में देवी का एक नाम स्वाधीनवल्लभा भी है जिसका अर्थ है कि वे स्वयं के ही अधीन रहते हैं एवं पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र हैं। अत:वे एकमात्र इस विश्व में चितिशक्ति के रूप में व्याप्त हैं एवं उन्हीं का आराधन चिन्तन एवं सेवा करना प्रत्येक जीव का वास्तविक दायित्व है।

वस्तुत: समस्त आगम-शास्त्र मानता है कि शक्ति के बिना शिव भी शव हैं। अत: समस्त आगम-शास्त्र उस पराशक्ति की महत्ता (महिमा) का गुणगान करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश भी बिना पराशक्ति से शक्ति प्राप्त किए हुए संसार की रचना, पालन तथा संहार का कार्य नहीं कर सकते हैं। स्वयं शिव इन्हीं सन्दर्भों में मां पार्वती से कहते हैं "शक्तिं बिना महेशानि! सदाहं शव रूपकः। शक्तियुक्तो महादेवि-शिवोहं सर्वकामदः।। ईश्वरोहं महादेवि-केवलं शक्तियोगतः॥" हे पार्वती! तुम्हारे बिना में मृत (शव) हूँ। तुम्हारे साथ रहके ही मैं महादेव और सब कामनाओं की पूर्ति करने वाला बन जाता हूँ। आगम-ग्रन्थों में तो यहाँ तक बताया गया है कि शक्तिरहित शिव का तो नाम-धाम भी अस्तित्व में नहीं रह जाता है। इतना ही नहीं शक्तिहीन परमेश्वर कुछ भी करने में अक्षम हो जाते हैं। "शक्त्याबिना शिवे सूक्ष्मे-नाम धाम न विद्यते। परोहिशक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किंचन।। कपाली भूतेशो भजति जगदीशैक पदवीं।भवानी त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटी फलमिदम्॥" तन्त्र साहित्य के प्रख्यात ग्रन्थ *वरिवस्यारहस्य* के अनुसार महाशक्ति को प्रकाश तथा विमर्श स्वरूपों में माना गया है-स जयति महान् प्रकाशो ,यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि कथमिव यस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातमुच्यते वेदैः।उस महान् प्रकाश रूप महाशक्ति की जय हो जिसे देखने तथा जानने के पश्चात् समस्त ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है एवं वह (भक्त) मुक्त हो कर विचरण करता है।

यह बात प्रमुख है कि सभी सम्प्रदायों के समान ही शाक्त सम्प्रदाय का उद्देश्य भी भोग एवं मोक्ष का प्रतिपादन करना है क्योंकि शक्ति ही जीवन है, शक्ति ही धर्म है, शक्ति ही सत्य है, शक्ति ही सर्वत्र व्याप्त है और शक्ति की सभी को आवश्यकता है। नाथ और शाक्त सम्प्रदाय के साधक भोग एवं मोक्ष को प्राप्त करने के लिये तरह-तरह के योग और साधना करते रहते हुए विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं क्योंकि मातृका शक्ति की कृपा से ही भोग एवं मोक्ष पाया जा सकता है। अत: यदि साधक शक्ति की उपासना नहीं करता है तो सिद्धि, बुद्धि और समृद्धि का कोई अर्थ नहीं है।

वी वी बी आई एस एंड आई एस
(पंजाब विश्वविद्यालय)
साधु आश्रम, उना रोड,
पो. होशियारपुर
फ़ोन 9417188202

तन्त्रशास्त्रीय परम्परा में *श्रीदुर्गासप्तशती* : स्वरूप चिन्तन एवं विधि विमर्श

डॉ. घनश्याम चन्द्र उपाध्याय

श्रीदुर्गासप्तशती : स्वरूप-अध्ययन

1. प्राक्कथन

परादेवी-भगवती-त्रिपुरा ही श्रीमहाकाली, श्रीमहालक्ष्मी तथा श्रीमहासरस्वती स्वरूप में अवतरित हुई है, जिनका कथानक श्रीदेवीमाहात्म्य के रूप में *मार्कण्डेयपुराण* में वर्णित है। यह देवी-चरित्र जनजीवन में शक्ति उपासना का आधार है, जिसका *कालिकापुराण* तथा *देवीभागवत-पुराण* में विस्तार से वर्णन किया गया है। यह हमारी संस्कृति में इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके विभिन्न प्रसंगों का वर्णन *मार्कण्डेय पुराण* के अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी निम्न स्वरूप में उपलब्ध होता है—

क्र.सं.	नाम पुराण	अध्याय क्रमांक	प्रसंग/विवरण
1	*ब्रह्मवैवर्तपुराण*	41	दुर्गोपाख्यान
		42	राजा सुरथ और वैश्य समाधि का विवरण
2	*वामन-पुराण*	17	महिषासुर उत्पत्ति वर्णन
		18	श्री देवी माहात्म्य वर्णन(1) उत्पत्ति
		19	श्री देवी माहात्म्य वर्णन(2) अन्य वर्णन
		20	महिषासुर वध वर्णन
		55	चण्डमुण्ड-वध वर्णन
		56	शुम्भनिशुम्भ-वध वर्णन
3	*मत्स्य पुराण*	12	देवी के 108 नाम
4	*भविष्य पुराण*	03	चण्डी का देवी वाक्यवर्णन
5	*कर्म पुराण*	11	देवी अवतार वर्णन
		12	श्री देवी एवं देवी सहस्रनाम स्तोत्र
6	पद्म पुराण	54	मधुकैटभ-वध वर्णन

इस प्रकार देवी उपासना हमारे जनजीवन का आधार है, जो दैनिक लौकिक एवं पारलौकिक अपेक्षाओं की दिशा व दशा का निर्धारण करती है। *श्रीदुर्गासप्तशती* संपूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित ग्रन्थ है, जिसका दैनिक-जीवन में लौकिक-कामनाओं की पूर्ति तथा बाधा-संकटादि निवारण हेतु प्रयोग करते हैं। इसमें लौकिकपक्ष के साथ-साथ पारलौकिक भक्तिपरक पक्ष भी प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि *श्रीदुर्गासप्तशती* में सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक,-ये दोनों पक्ष समाहित है। यह ग्रन्थ ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का सर्वसमादृत ग्रन्थ है, जो शाक्त-एवं शैव-परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखने के साथ साथ वैष्णव आगमादि सभी परम्पराओं में सर्वदा स्वीकृत है। *श्रीदुर्गासप्तशती* में सप्तशती के नामानुरूप सातसौ श्लोकों में देवी का कथानक वर्णित है। इस प्रसंग में *चिदम्बर-संहिता* में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

का च सप्तशती नाम देवी दारिद्र्यनाशिनी।
तस्याः स्वरूपं मे ब्रूहि तत्त्वतः परमेश्वर॥

॥ शिवः॥

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सप्तशत्या महोदयम्।
यस्याश्च पठनान्मन्त्री त्यजेज्जन्मदरिद्रताम्॥
या चिन्मयी परादेवी त्रिपुरा त्रिविधाभवत्।
देवकार्यसुसिद्ध्यर्थमसुराणां वधाय च॥
महत्यापदि सम्प्राप्ते देवाः सन्तुष्टुवु भृशम्।
तदा सा चिन्मयी शक्तिः कालीरूपा बभूव ह॥
सैव कामान्तरे लक्ष्मीस्तथैव च सरस्वती।
तासां कथानकं भद्रे त्रिदशाध्यायरूपकम्॥
***मार्कण्डेयपुराणोक्तं* स्तवं सप्तशताभिधम्।**
स्तवस्य तस्य पठनात्सर्वसौख्यं लभेद् ध्रुवम्॥
तस्मिन्देव्याः स्तवे पुण्ये मन्त्राः सप्तशतं शिवे।
तस्मात्सप्तशती नाम स्तवं परम दुर्लभम्॥
स्तवस्य पठनादेव सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः॥' ***— (चिदम्बर-संहिता)***

चिदम्बर-संहिता में *श्रीदुर्गासप्तशती* के सन्दर्भ में सम्प्राप्त यह उल्लेख निम्न तथ्यों का प्रमाणीकरण करता है—

1. *श्रीदुर्गासप्तशती*-स्तव का कथन *मार्कण्डेयपुराण* में किया गया है।

2. इसका कथानक में देवताओं पर आपत्ति के समय देवताओं की संतुष्टि हेतु देवकार्य-सिद्धि तथा असुरों के वध के प्रसंग का वर्णन है।

3. उक्त प्रसंग के क्रम में परादेवी-चिन्मयी-त्रिपुरा ने ही श्रीमहाकाली-स्वरूप तथा कामनाभेद से श्रीमहालक्ष्मी-एवं श्रीमहासरस्वती-स्वरूप धारण किया है।

4. यह कथानक त्रयोदश अध्यायों में वर्णित है।

5. श्री दुर्गासप्तशती में नामानुरूप मन्त्र संख्या 700 विहित है।

6. *श्रीदुर्गासप्तशती* का पाठ करने से निम्न परिणाम प्राप्त होते हैं—

   1. जन्म-जन्मान्तर की दरिद्रता का नाश होता है।

   2. सभी उपद्रवों का शमन होता है।

   3. सभी प्रकार की सौख्य प्राप्ति होती है।

7. यह सप्तशती स्तव परम दुर्लभ है।

रुद्रयामल के अनुसार श्रीदेवीमाहात्म्य गुह्यतम है तथा सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है।

अस्ति गुह्यतमं देव्या माहात्म्यं सर्वसिद्धिदम्।
वाक्यैरर्थैश्च पद्यैश्च सप्तशत्यात्मकं शुभम्॥
सविशेषं परं साक्षाच्चिच्छक्तिमहिमाश्रयम्।
तात्पर्यगत्या तत्कृत्स्नं निर्विशेषं चिदाश्रयम्॥ — *(रुद्रयामल-तन्त्र)*

डामर-तन्त्र में भी सप्तशतीस्तव की प्रशंसा में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

यथाश्वमेधः क्रतुषु देवानां च यथा हरिः।
स्तवानामपि सर्वेषां यथा सप्तशतीस्तवः॥
नातः परतरं स्तोत्रं किञ्चिदस्ति वरानने।
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं पावनानां च पावनम्॥ — *(डामर तन्त्र)*

अर्थात् 'जैसे अश्वमेधादि यज्ञों में श्री विष्णु का महत्त्व है, वैसे ही सभी प्रकार के स्तोत्रों में सप्तशती-स्त्रोत का महत्त्व है। हे सुमुखि ! सप्तशती-स्तोत्र से बढकर कोई अन्य स्तोत्र नहीं है, क्योंकि यह स्तोत्र भुक्ति (ऐश्वर्य), मुक्ति को देने वाला तथा पुण्य व पवित्रों को भी पवित्र करने वाला है।'

इस त्रयोदशाध्यायी-देवीचरित्र को विभिन्न तन्त्रादि ग्रन्थों मे कवच, अर्गला तथा कीलक और प्राधानिकादि रहस्यत्रय के साथ पढ़े जाने का विधान सृजित है, जिसकी अनुपालना की जाकर पाठ किए जाने पर ही अपेक्षित फल कि प्राप्ति संभव होती है।

2. *श्रीदुर्गासप्तशती* का मूलउत्स : मार्कण्डेयपुराण

मार्कण्डेयऋषि के द्वारा कथन किये जाने के कारण इस पुराण का नाम 'मार्कण्डेय-पुराण' प्रचलित हुआ है। इस पुराण में मूलतः 137 अध्यायों का उल्लेख प्राप्त होता है, परंतु अधिकतर प्रतियों मे पुराण की समाप्ति 134 अध्याय पर ही कर दी गई है।

खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई-4 से प्रकाशित स्वर्गीय पंडित कन्हैयालाल मिश्र की टीका के पुराण में 134 अध्याय है। मार्कण्डेयपुराण में निम्न 14 मन्वन्तरों का विवरण प्राप्त होता है—

1. स्वायंभुव 2. स्वारोचिष 3. औत्तम 4. तामस 5. रैवत 6. चाक्षस 7. वैवस्वत 8. सावर्णिक 9. दक्षसावर्णि 10. धीमान् ब्रह्मसावर्णि 11. धर्मसावर्णि 12. रुद्रसावर्णि 13. रौच्य 14. भौत्य ।

इस सूची में क्रमांक 8 पर 'सावर्णिक-मन्वन्तर' का प्राचीन पाण्डुलिपियों में 'सूर्यसावर्णिक-मन्वन्तर' नाम पाया गया है, जिसके प्रचलन में वर्तमान में न्यूनता आ गई है और वर्तमान में इसे 'सावर्णिक-मन्वन्तर' के नाम से जाना जाता है।

श्रीदुर्गासप्तशती में वर्णित श्रीदेवीमाहात्म्य का पौराणिक उद्भव मार्कण्डेय-पुराण के अध्याय 78 से 90 तक सूर्यसावर्णिक-मन्वन्तर के अन्तर्गत देखने को मिलता है। मार्कण्डेयपुराण की कुछ प्रतियों में इसके अध्याय 81 से 93 तक पाये जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार *श्रीदुर्गासप्तशती* का कथानक अपने पौराणिक स्वरूप में श्रीदेवीमाहात्म्य के स्वरूप में मार्कण्डेयपुराण में सावर्णिक- मन्वन्तर के अन्तर्गत अध्याय क्रमांक 78 से अध्याय क्रमांक 90 तक त्रयोदशाध्यायों में वर्णित है।

3. *श्रीदुर्गासप्तशती* का देवी माहात्म्य-स्वरूप

मार्कण्डेय पुराण में सावर्णिक-मन्वन्तर के अन्तर्गत वर्णित श्रीदेवीमाहात्म्य को रुद्रयामल के अनुसार *श्रीदुर्गासप्तशती* के रूप में यथावत् ग्रहण कर लिया गया है। श्रीदेवीमाहात्म्य के इन त्रयोदश-अध्यायों को तीन चरित्रों में विभक्त कर प्रथम-चरित्र में मधु-कैटभ-वध, मध्यम-चरित्र में महिषासुर-वध तथा उत्तर-चरित्र में चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज, शुंभ-निशुम्भ आदि के वध के कथानक का वर्णन किया गया है। प्रथम, मध्यम एवं उत्तर-चरित्रों के देवता क्रमशः श्रीमहाकाली, श्रीमहालक्ष्मी एवं श्रीमहासरस्वती हैं। प्रथम-चरित्र में अध्याय

क्रमांक 1, मध्यम- चरित्र में अध्याय क्रमांक 2, 3 व 4 तथा उत्तर-चरित्र में अध्याय क्रमांक 5 से 13 तक समाहित है—

क्र.सं.	अध्याय मार्क. पुराण	अध्याय सप्तशती	चरित्र	प्रसंग
1	78	1	प्रथम चरित्र	मधुकैटभ-वध
2	79	2	मध्यम चरित्र	महिषासुरसैन्य-वध
3	80	3	मध्यम चरित्र	महिषासुर-वध
4	81	4	मध्यम चरित्र	शक्रादय-स्तुति
5	82	5	उत्तर चरित्र	देव्या-दूत-संवाद
6	83	6	उत्तर चरित्र	धूम्रलोचन-वध
7	84	7	उत्तर चरित्र	चण्डमुण्ड-वध
8	85	8	उत्तर चरित्र	रक्तबीज-वध
9	86	9	उत्तर चरित्र	निशुम्भ-वध
10	87	10	उत्तर चरित्र	शुम्भ-वध
11	88	11	उत्तर चरित्र	देव्या-स्तुति
12	89	12	उत्तर चरित्र	फलश्रुति
13	90	13	उत्तर चरित्र	सुरथ-वैश्य वर- प्रदान

इस त्रिचरित्री-त्रयोदशाध्यायी स्वरूप में वर्णित श्रीदेवीमाहात्म्य के चतुर्थ अध्याय में शक्रादिस्तुति, पंचम अध्याय में देवीस्तुति एकादश अध्याय में नारायणिस्तुति उपलब्ध है, जिसे पृथक् से भी पढ़ा जाता है।

सप्तशति-सर्वस्व में पत्रांक 4 पर 'सप्तशती-स्तोत्र' के स्वरूप प्रसंग में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

'अथेदं सप्तशती स्तोत्रं मार्कण्डेय उवाचेत्यारभ्य सावर्णिर्भविता मनुरित्यन्तं त्रयोदशाध्यायात्मकं मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत सर्वकामदुघं न केनचित् निर्मित्तमिति।'

इस प्रकार *श्रीदुर्गासप्तशती* का त्रयोदशाध्यम्यी त्रिचरित्री स्वरूप मार्कण्डेय पुराण में वर्णित है।

4. *श्रीदुर्गासप्तशती* में पाठ के षडङ्ग

श्रीदुर्गासप्तशती में त्रयोदशाध्यायी त्रिचरित्री स्वरूप-पाठ के साथ-साथ षडङ्गों का पाठ किया जाना भी नितान्त आवश्यक माना गया है। इस प्रसंग में कात्यायनी-तन्त्र का निम्न उल्लेख द्रष्टव्य है—

अङ्गहीनो यथा देही सर्वकर्मसु न क्षमः।
अङ्गषट्कविहीना तु तथा सप्तशती स्तुतिः ॥ — *(कात्यायनी-तन्त्र)*

इन षडङ्गों के विषय में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

अङ्गषट्कं विजानीयात्कवचार्गलकीलकैः।
रहस्यत्रितयं चैव सहितैर्मनुजेश्वरः॥ — *(हिन्दी मन्त्रमहार्णव देवीखण्ड,* पृष्ठ 145)

कवच, अर्गला, कीलक तथा रहस्यत्रय (प्राधानिक, वैकृतिक तथा मूर्तिरहस्य)—ये *श्रीदुर्गासप्तशती* के षडङ्ग माने गए हैं। कात्यायनी तन्त्र में इन षडङ्गों का पाठ *श्रीदुर्गासप्तशती* पाठ के साथ किया जाना नितान्त आवश्यक माना गया है। इन षडङ्गों का पाठ न किये जाने की स्थिति में शापित तथा पद-पद पर हानि होना बताया गया है—

तस्मादेतत्पठित्वैवं जपेत्सप्तशतीं पराम्।
अन्यथा शापमाप्नोति हानिश्चैव पदे-पदे॥
— (*कात्यायनी तन्त्र, हिन्दी मन्त्रमहार्णव देवीखण्ड* , पृष्ठ 144)

श्रीदुर्गासप्तशती पाठ के षडङ्गों में प्रथम तीन अङ्गों—कवच, अर्गला तथा कीलक का पाठ सप्तशती पाठ के पूर्व तथा प्राधानिकादि रहस्यत्रय का सप्तशती पाठ के उपरान्त पाठ किये जाने का विधान है। सभी पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशित प्रतियों यही स्थिति पाई गई है। यह दूसरी बात है कि कई पाण्डुलिपियों मे रहस्यों को क्रमशः चतुर्दश, पंचदश तथा षोडश अध्याय के रूप में उल्लिखित किया गया है तथा कुछ पाण्डुलिपियों मे ये रहस्य पाठ के अन्त मे अनुपलब्ध पाए गए हैं। *श्रीदुर्गासप्तशती* की सभी प्रकाशित-प्रतियाँ में पाठ के उत्तराङ्ग के रूप में तीनों रहस्य वर्तमान में प्रचलन में है।

कवच, अर्गला तथा कीलक के पाठक्रम के विषय में अलग-अलग मत प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में *'योग रत्नावली'* में पाठ का निम्न-क्रम दिया गया है—

कवचं बीजमादिष्टमर्गलाशक्तिरुच्यते।
कीलकं कीलकं प्राहु सप्तशत्या महामनोः॥

इसके अनुसार प्रथम बीज 'कवच', तदुपरान्त शक्ति 'अर्गला' और इसके बाद कीलक 'कीलक' का पाठ किया जाना विहित है। एसियाटिक सोसायटी पाण्डुलिपि ग्रंथालय, मुम्बई की पाण्डुलिपि क्रमांक 180/1, 918 में *डामरी-तन्त्र* के अनुरूप कवच, अर्गला और कीलक के पाठ का यही विधान उपलब्ध होता है—

पठित्वा कवचं चादौ अर्गलं कीलकं तथा।
जपेत् सप्तशतीं चण्डीं क्रम एष शिवोदितः॥ — *(डामर-तन्त्र)*

इस सम्बन्ध में एक अन्य विधान भी उपलब्ध है, जो *चिदम्बर संहिता* में निम्न प्रकार उल्लेखित है—

अर्गलं कीलकं चादौ पठित्वा कवचं पठेत्।
जपेत्सप्तशती पश्चात् सिद्धिकामेन मन्त्रिणा॥
रहस्यत्रयमप्यन्ते पठितव्यं प्रयत्नतः।
मध्ये नवार्णपुटितं कृत्वा स्तोत्रं सदा पठेत्॥ — *(चिदम्बर –संहिता)*

इस विधान के अनुसार सर्वप्रथम अर्गला तथा इसके उपरान्त कीलक एवं कवच का पाठ किया जाना चाहिए। पाठ के पूर्वाङ्ग कवचार्गलकीलक के दोनों क्रमों (कवच, अर्गला, कीलक तथा अर्गला, कीलक, कवच) के पाठक्रम की प्रकाशित प्रतियाँ तथा पांडुलिपियाँ गत 43 वर्षों मे अध्ययन के दौरान लेखक को प्राप्त हुई हैं।

इस प्रसंग में यह उल्लेख भी प्राप्त होता है कि ब्रह्मा ने कवच, विष्णु ने अर्गला तथा शङ्कर ने कीलक बनाया है—

कीलकं शङ्करप्रोक्तम् कवचं ब्रह्मणा कृतम्।
अर्गलं विष्णुना प्रोक्तमेतत्त्रितयमुत्तमम्॥ *(हिन्दी मन्त्र महार्णव देवीखण्ड*, पृष्ठ 146)

यही नहीं, कवचार्गल कीलक का नित्य पाठ किये जाने पर प्राप्त होने वाले फल का उल्लेख भी प्राप्त होता है कि अर्गला दुःखों का हरण करता है, कीलक फलदायक है तथा कवच नित्य रक्षा करता है। अतः इनका नित्य पाठ करना चाहिये–

अर्गला दुरितं हन्ति कीलकं फलदं भवेत्।
कवचं रक्षयेन्नित्यं तस्मादेतत्त्रयं पठेत्॥ *(हिन्दी मन्त्र महार्णव देवीखण्ड*, पृष्ठ 147)

प्राधानिक, वैकृतिक तथा मूर्तिरहस्यों को *श्रीदुर्गासप्तशती* के उत्तराङ्ग के स्वरूप में पढ़े जाने की परम्परा प्रचलित है। इन तीनों रहस्यों के देवता क्रमशः श्रीमहाकाली, श्रीमहालक्ष्मी तथा श्रीमहासरस्वती हैं। इन तीनों रहस्यों का *श्रीदुर्गासप्तशती* के त्रयोदश अध्यायों के पाठ के उपरान्त पाठ किया जाता है।

5. *श्रीदुर्गासप्तशती* पाठ मे सूक्त–विधान

श्रीदुर्गासप्तशती में षडङ्गों के समान ही पाठ के पूर्वाङ्ग तथा उत्तराङ्ग के रूप में सूक्तों के पढ़े जाने की परम्परा प्रचलन में है। *'मारीचकल्प'* में इन सूक्तों के पठन के सन्दर्भ में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

रात्रिसूक्तं पठेदादौ मध्ये सप्तशती स्तवम्।
प्रान्ते तु पठनीयं वै देवीसूक्तमितिक्रमः॥ — *(मारीच कल्प)*

'मारीच कल्प' के इस उल्लेख के क्रम में *श्रीदुर्गासप्तशती* में कवच, अर्गला व कीलक के उपरान्त रात्रिसूक्त का पाठ किया जाता है। रात्रिसूक्त वेदोक्त एवं तन्त्रोक्त, इन दो स्वरूपों में उपलब्ध है। जो पाठक

वैदिक परम्परा के अनुसार पाठ करते हैं, उन्हें वेदोक्त रात्रिसूक्त का पाठ करना चाहिए तथा जो पाठक तान्त्रिक परम्परा के अनुरूप पाठ करते हैं, उनके लिये वेदोक्त तथा तन्त्रोक्त, दोनों मे से किसी भी प्रकार के रात्रिसूक्त का, अथवा वेदोक्त तथा तन्त्रोक्त दोनों प्रकार के रात्रि-सूक्तों का पाठ किये जाने का विकल्प उपलब्ध है। यदि पाठक चाहे तो तान्त्रिक एवं वेदोक्त दोनों एक साथ भी पढ़ सकते हैं।

श्रीदुर्गासप्तशती पाठ के उपरान्त रहस्यत्रय के पूर्व देवीसूक्त पढ़े जाने की परम्परा है। देवीसूक्त भी वेदोक्त व तन्त्रोक्त, इन दो प्रकार का है। वैदिकों को वेदोक्त देवी सूक्त का ही पाठ करना विहित है, जबकि तान्त्रिक परम्परानुयायियों के लिये वेदोक्त अथवा तन्त्रोक्त देवीसूक्त मे से किसी भी देवीसूक्त अथवा दोनों सूक्तों के पठन का विकल्प खुला हुआ है।

वैदिक-रात्रिसूक्त 'रात्रिव्यख्यदायती' वैदिक ऋचा से प्रारंभ होकर आठ ऋचाओं में पूर्ण होता है। ये आठ ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत है। तान्त्रिक-रात्रिसूक्त *श्रीदुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में 'विश्वेश्वरीं जगद्धात्री .....' से प्रारंभ होता है।

वैदिक देवीसूक्त 'अहं रुद्रेभिः -----' वैदिक ऋचा से प्रारंभ होकर आठ ऋचाओं में पूर्ण होता है। यह भी ऋग्वेद से उद्धृत है। तान्त्रिक देवीसूक्त *श्रीदुर्गासप्तशती* के पंचम अध्याय मे 'नमो देव्यै महादेव्यै .....' से प्रारंभ होता है।

इस प्रकार *श्रीदुर्गासप्तशती* मे पाठ के पूर्वाङ्ग स्वरूप में कवचार्गल कीलक के उपरान्त रात्रिसूक्त तथा उत्तराङ्ग के रूप में रहस्यत्रय से पूर्व देवीसूक्त का पाठ किया जाना विहित है।

6. श्री दुर्गा सप्तक्षती में नवार्ण सम्पुट विधान

श्रीदुर्गा सप्तशती में अष्टोत्तरशत नवार्ण मन्त्र (ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे) से त्रयोदश अध्यायों को सम्पुटित किये जाने की परम्परा प्रचलन में है। इस सम्बन्ध में डामर तन्त्र में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है—

शतमादौ शतं चान्ते जपेन्मन्त्रनवार्णकम्।
चण्डी सप्तशती मध्ये सम्पुटोयमुदाहृतः ॥

इस प्रकार डामर तन्त्र की परम्परानुरूप श्री दुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय के पूर्व रात्रिसूक्त के उपरान्त तथा त्रयोदश अध्याय के समाप्ति के उपरान्त देवी सूक्त के पूर्व अष्टोत्तरशत नवार्ण-मन्त्र का जाप किया जाता है।

7. *श्रीदुर्गासप्तशती* पाठ में शापमोचनादि

अथ सप्तशती शापमोचनं

श्रीदुर्गासप्तशती के स्वरूप निर्धारण में षडङ्गों के अतिरिक्त इस पीठ के शापमोचनादि पर भी विचार किया जाना समीचीन प्रतीत होता है। प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, कोटा (राजस्थान) की पाण्डुलिपि क्रमांक एस.आर. 5830, संग्रहाक 996 में इस सन्दर्भ में पाण्डुलिपि के पृष्ठ 68 पर निम्न विधान निर्दिष्ट है—

शापमोचनं—

ॐ प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य मायाबीजं ततः परम्।
रमा कामं तथा क्रोधं तारं वाग्भवसंयुतम्।
लोभं मोहं ततः पश्चादुत्कीलयेति त्रिभिर्वदेत्॥

'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं क्रौं ॐ ऐं लोभय मोहय उत्कीलय उत्कीलय उत्कीलय स्वाहा' इति सप्तशती शापमोचनं शतवारं जप्त्वा पश्चात् सप्तशतीं पठेत्।

यह विधान वर्तमान में प्रचलन में देखने में नहीं आता है। इस प्रसंग में कुछ प्रकाशित प्रतियों में शाप-विमोचन मंत्रों का सप्तशती के प्रारंभ में ही पाठ करने का विधान दिया गया है, तो कुछ प्रतियों में कवचादि के पूर्व शापोद्धार, उत्कीलन तथा मृतसञ्जीवन-मन्त्र का क्रमशः 7 बार, 21 बार, तथा 7 बार जाप किये जाने का उल्लेख है। इस क्रम के विलोम-क्रम में इन मंत्रों का उक्त संख्या में रहस्यत्रय के उपरान्त भी जाप किया जाना अपेक्षित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रहस्यत्रय के उपरान्त इन मंत्रों का जाप इनके शापोद्वार, उत्कीलन तथा मृत संजीवन के रूप में नहीं किया जाकर इसके विलोम क्रम में अर्थात् मृत-संजीवन मन्त्र 7 बार, उत्कीलन मन्त्र 21 बार तथा शापोहार 7 बार किया जाना चाहिए।

एम.एससी.,एम.एम.
(हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, मनोविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान,)
एम.कॉम., एम.एड, एम.जे.एम.सी.,
एलएल.बी.,एम.बी.ए.,कोविद,
आयुर्वेद रत्न, पीएच. डी.
तारे सैकण्डरी स्कूल के सामने
रंगपुर रोड नं. 2
पो. कोटा जंक्शन (राजस्थान)
पिन-324002
दूरभाष : 9414177882

प्रणवोपनिषद् में प्रणव साधना का आगमिक रहस्य

प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्रणवः परमं ब्रह्म प्रणवः परमः शिवः।
प्रणवः परमो विष्णुः प्रणवः सर्वदेवता।।
ॐकाराय विद्महे भवताराय धीमहि।
तन्नः प्रणवः प्रचोदयात्।।

प्रणव ॐकार को कहते हैं यह ॐकार परब्रह्म की अक्षराभिव्यक्ति है। *प्रणवोपनिषद्* नाम से दो उपनिषद् प्राप्त होते हैं। इस शोध लेख में पद्यात्मक *प्रणवोपनिषद्* का सार विमर्शित है। इस उपनिषद् में 13 श्लोक है। प्रणव की तीन मात्राओं के साथ, त्रिदेव, त्रिकाल, त्रिवेद, तीन अग्नियों को संगति बिठाई गई है। इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना सहित 72 हजार नाड़ियों में ॐकार को व्याप्त कहा गया है। अन्त में यह सिद्ध किया गया है कि साधक को ॐकार के माध्यम से ही ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग प्राप्त होता है। आरम्भ में कहा है कि उस ब्रह्मा के सामने विष्णु के अद्भुत कर्म वाली ब्रह्मविद्या के रहस्य बताया जा रहा है वह विधा अग्नि को धारण करने से 'धृताग्नि' कही गई है। जैसे अग्नि सञ्चित कर्मों को भस्मसात् करने में समर्थ है वैसे प्रणवविधा भी कल्याणकारक है—

पुरस्ताद् ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्यं ब्रह्मविद्यायाः धृताग्निं प्रचक्षते।। — *प्रणवोपनिषद्*, 1

आगम में ॐकार रहस्य

प्रणव वेदत्रयी, त्रिलोक, देवत्रय आदि का उद्भावक है। *शिवमहिम्नस्तोत्र* के 27 वे पद्य में ओम् पद की व्याख्या इन्हीं रूपों में की गई है—

त्रयी तिस्रो वृतिस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्।
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृतिः।।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः।
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणदः गृणात्योमिति पदम्।।27।।

दुर्वासा ऋषि भी त्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप इसी प्रकार *'शक्ति महिम्नस्तोत्र'* के 18वें पद्य में कहते हैं कि इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सूर्य, सोम, अग्नि, लोकत्रय, पीठत्रय, लिङ्गत्रय, कालत्रय, वेदत्रय, अग्नित्रय, स्वरत्रय एवं सम्पूर्ण विश्व की प्रणव से अभिन्न कामकला, अथवा त्रिपुर सुन्दरी से ही इन सबकी उत्पत्ति होती है—

आद्यैरग्निरवीन्दुबिम्बनिलयैरम्बत्रिलिङ्गकात्मभिः।
मिश्रारक्तसितप्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्त्रिभिः।
स्वात्मोत्पादितकाललोकनिगमावस्थामरादित्रयैः।
उद्भूतं त्रिपुरेति नाम कलयेद् यस्ते स धन्यो बुधः।। — *शक्तिमहिम्नस्तोत्र*, 18

वस्तुत: ॐकार, उमा, त्रिपुरसुन्दरी तथा कुण्डलिनी एक ही तत्त्व हैं। अत: प्रणव को समस्त प्राणियों का प्राण तथा जीवन का प्रतिष्ठापक कहा गया है—

प्रणवः प्राणिनां प्राणो जीवनं सप्तप्रतिष्ठितम्।
गृह्णाति प्रणवः सर्वं कलाभिः कलयेच्छिवम्।। — नेत्रतन्त्र, अधि-12

प्रणव की 12 कलायें स्वच्छन्द तन्त्र में बताई गई है। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना, उन्मना—इन बारह कलाओं से ॐकार पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त समस्त तत्त्वों तथा भुवनों को आकलित करता है—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च।
अर्द्धचन्द्रो निरोधो च नादो नादान्त एव च।।
कौण्डिलो व्यापिनी शक्तिः समनैकादशी स्मृता।
उन्मना च ततोऽतीता तदतीतं निरामयम्।। — स्वच्छन्दतन्त्र, 4.225-226

वस्तुत: ॐकारगत अणुतर नव ध्वनियाँ सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम काल द्वारा उच्चारित ध्वनिविशेष का वर्णविशेष है। *पाणिनिशिक्षा* में चौंसठ वर्गों में अनुस्वार तथा विसर्ग का ग्रहण होता है इसलिये *वरिवस्या रहस्य* (पृ. 10) में भास्कर राय इन्हें भी वर्ण विशेष मानते हैं। अत: *योगिनीहृदय* में पञ्चदशी के 15 अक्षरों को अठ्ठावन वर्णों की संहति मानी गयी है। बिन्दु से लेकर उन्मनापर्यन्त नवकलाओं की समुदित रूप में नाद संज्ञा है। भास्कर राय *वरिवस्या रहस्य* ,पृ. 11 में बिन्दु सहित आठ कलाओं को नाद संज्ञा बताते हैं—

बिन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते।।13।।

बिन्दु की आधी मात्रा होती है, फिर अर्धचन्द्र, रोधिनी आदि में पूर्वध्वनि की आधी-आधी मात्रा क्रमश: मानी जाती है, जिससे उत्तरकाल में अति सूक्ष्मता आती है। कमलपत्रों को एकसाथ रख कर सूई से छेदने पर प्रत्येक पत्र के छेदन को 'लव' काल कहा गया है। एकमात्रा में 256 लव होते हैं, बिन्दु के उच्चारण में

128 लव, अर्धचन्द्र में चौसठ, रोधिनी में बत्तीस, नाद में सोलह, नादान्त में आठ, शक्ति में चार, व्यापिनी में दो तथा समना में एक लव होता है। उन्मना सर्वथा कालरहित होता है। इस ॐकार की नवमात्राओं को सूक्ष्मतम काल समझना चाहिए।

प्रणवोपनिषद् में ॐकार रहस्य

श्रीविद्या साधना में महात्रिपुरसुन्दरी का पञ्चदशी षोडशी मन्त्र वैदिक गायत्री मन्त्र का ही गुप्ततम रूप है। भारतीय मन्त्र विद्या में गायत्री को सर्वोपरि मन्त्र एक स्वर में स्वीकार किया गया है। यह मन्त्र वेदों का आधार होने से बीज स्वरूप है। गायत्री का सार 'भूर्भुव: स्व:' इन तीन महाव्याहृति को माना गया है। इनका भी सार 'ॐ' है। ब्रह्मज्ञान के उपासक ॐ या प्रणव को ही अक्षर ब्रह्म कहते हैं। प्रणव का स्वरूप *प्रणवोपनिषद्* में इस प्रकार बताया गया है—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानकालत्रयं तथा॥
तस्य देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोग्नयः।
तिस्रो मात्रार्द्धमात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत्॥ — *प्रणवोपनिषद्*, 2, 3

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ॐ को ही एकाक्षर ब्रह्म कहते हैं। इसका शरीर, स्थान तथा काल त्रय को बता रहा हूँ। इस प्रणव के तीन देवता, तीन लोक, तीन वेद, तीन अग्निशास्त्र में कही गई है। इसकी तीन मात्रायें अ, उ, म है, इसके ऊपर अर्धमात्रा ँ नाद एवं बिन्दु के रूप में विराजित है।

1. अकार तत्त्व

यह ओङ्कार की प्रथम मात्रा है। इसे ही जाग्रत् अवस्था की अधिष्ठाता विश्वरूप आत्मा, या वैश्वानर स्वरूप रजोगुण भी माना गया है। 'अकारो वै सर्ववाक्' के वैदिक उद्घोष के अनुसार विराट् की तरह सभी वाक्यों में 'अ' ही व्याप्य है। जैसे यह अकार प्रणव का प्रथम वर्ण ही विश्वस्रष्टा विराट् ब्रह्मा होने से सृष्टि कर्त्ता होने से प्रथम देवता है। अत: अकार का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्याग्नि, पृथिवी तथा ब्रह्मा सिद्ध होते हैं, ऐसा ब्रह्मवादियों का व्याख्यान है—

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्मा एव च।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥ — *प्रणवोपनिषद्*, 4

2. उकारतत्त्व

ॐकार की द्वितीय मात्रा 'उ कार' है। स्वप्न का अधिष्ठाता 'तैजस' आत्मा सत्त्वगुण रूप उकार है। जाग्रत् अवस्था की अपेक्षा स्वप्नावस्था में उपाधि की न्यूनता होती है किन्तु जैसे स्वप्न के अधिष्ठाता तैजस आत्मा,

वैश्वानर आत्मा की अपेक्षा ऊर्ध्व या उत्कृष्ट होती है वैसे ही अकार की अपेक्षा उकार का तत्त्वज्ञान अधिक श्रेयस्कर है। यद्यपि अकार के तत्त्वज्ञान से सभी कामनाओं की सिद्धि होती है परन्तु उकार के तत्त्वज्ञान से समष्टि का उत्कर्ष साधन होता है। जैसे उकार अकार एवं म कार का मध्यवर्ती है वैसे तैजस आत्मा भी विश्व तथा प्राज्ञ का मध्यवर्ती है। मध्यवर्ती होना समानता का परिचायक है। जैसाकि *प्रणवोपनिषद्* में कहा गया है—

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान् देव उकारः प्रकीर्तितः ॥5॥

3. मकारतत्त्व

सुषुप्ति स्थान में स्थित 'प्राज्ञ' आत्मा तमोगुण स्वरूप ओङ्कार की तीसरी मात्र मकार है। जैसे सुषुप्ति में जाग्रद् एवं स्वप्नावस्था प्रकृति के विलीन हो जाती है वैसे ही अकार एवं उकार मकार में लीन हो जाते हैं। सृष्टि तथा स्थिति भी लय में पर्यवसित हो जाते हैं। सुषुप्ति के अन्त में जाग्रत् अवस्था का पुनः आविर्भाव होता है, वैसे ही ओङ्कार के उच्चारणकाल में लय स्थान को प्राप्त मकार से अ एवं उ—ये दो मात्रायें पुनः निर्गत होती है। इसलिये ॐकार की तृतीय मात्रा मकार सुषुप्ति का अधिष्ठाता प्राज्ञ स्वरूपी आत्मा है। इसे *प्रणवोपनिषद्* में इस प्रकार कहा गया है—

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च ।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥5॥

अर्थात् ॐकार की तृतीय मात्रा मकार सामवेद, स्वर्गलोक अधिष्ठाता देव शिव तथा अग्नि आहवनीय है। अकार ही सूर्यमण्डल के रूप में आभा को प्राप्त करता है। उसके मध्य में स्थित उकार चन्द्र की आभा से मण्डित है। उस उकार के मध्य मकार अग्नि की तरह प्रकाशित है जो धूमरहित बिजली की तरह चमकीला है। इस प्रकार प्रणव की तीन मात्राओं को सोम, सूर्य, अग्नि मानना चाहिये—

सूर्यमण्डलमाभाति ह्यकारश्चन्द्रमध्यगः ।
उकारश्चन्द्रसङ्काशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥
मकारश्चाग्निसङ्काशो विधूमो विद्युतोपमः ।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्नितेजसः ॥ — *प्रणवोपनिषद्*, 7-8

प्रज्ज्वलित दीपक पर जिस प्रकार दीपशिक्षा जगमग रूप में दमकता है उसी तरह प्रणव पर अर्धमात्रा को जानना चाहिये। परा उत्कृष्टरूपा पद्मतुन्तु समान सूक्ष्म शिखारूप में दिखाई देती है। नासा के अग्रभाग में सूर्य के समान दीप्त सूर्य से भिन्न परन्तु सूर्य सदृश सूर्यमण्डल का भेदन कर वहाँ स्थित है—

शिखा च दीपसङ्काशा यस्मिन्तु परिवर्तते ।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा ।
नासादिसूर्यसङ्काशा सूर्यं हित्वा तथापरम् ॥ — *प्रणवोपनिषद्*, 10-11

इस प्रकार प्रणव की त्रिभागा के पश्चात् अर्धमात्रा नाद से बिन्दुपर्यन्त समझना चाहिये।

4. अर्धमात्रा (नाद-बिन्दु)

ॐकार के मध्य में तीन वर्ण—'अ उ म' है। इन्हें त्रिमात्रा के नाम से कहा जाता है। इसके अतिरिक्त आधा मात्रा और भी है। उसे नाद-बिन्दु (ँ) प्रणव के ऊपर स्थित मानते हैं। उसका स्वरूप माण्डूक्य श्रुति में इस प्रकार वर्णित है—'**अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपरामः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव**'। ओङ्कार का चौथा अंश अकारादि तीन मात्राओं से रहित तथा वाणी एवं मन से अगोचर व्यवहार के अयोग्य अर्धमात्रा है। वह जगत् प्रपञ्च के लय स्थान तथा मङ्गलमय अद्वैत का आत्मस्वरूप है। चौथे अंश का पृथक् उच्चारण नहीं होता है। नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार तथा मकार—इन तीन मात्राओं के रूप में तुम्हीं स्थित हो। अर्धमात्रा के रूप में तुम्हारा उच्चारण सम्भव नहीं है। तुरीय मात्रा का उच्चारण नहीं होता है इसलिए अनुच्चार्या अर्द्धमात्रा मानी जाती है—

सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।। — *दुर्गासप्तशती, 1.74*

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि प्रणव की 'अ-उ-म्' ॐ शब्द से ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का परामर्श होता है। अर्धमात्रा बिन्दु से परब्रह्म बोधित किया जाता है। इसमें अर्ध चन्द्राकृति नाद शब्द के द्वारा शब्द ब्रह्ममयी आद्या शक्ति सूचित होती है। वह शक्ति ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से पृथक् शब्द ब्रह्ममयी नादरूपिणी अर्ध चन्द्राकृति से ज्ञापित होती है। इस प्रणव के केन्द्र में साक्षिस्वरूप बिन्दुरूप परब्रह्म विराजित होता है। प्रणव की अग्निरूप शिखा (अर्धमात्रा) बहत्तरहजार नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों को वर देने वाली है तथा सबको व्याप्त करती है—

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडिभिस्त्वा तु मूर्धनि ।
वरदं सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति ॥ — *प्रणवोपनिषद्*, 11

अन्त में *प्रणवोपनिषद्* में ॐकार महिमा में कहा गया है कि जब मुमुक्षु मोक्ष प्राप्ति के लिए शान्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो काँसे के घण्टे के समान निनाद सुनाई देता है। यह ॐकार का स्वरूप है। इस स्वरूप को योगी सुनने की इच्छा करते हैं। साधक नाद को सुनकर अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। साधक नाद को सुनकर अमृतत्त्व को अधिगत कर लेता है—

कांस्यघण्टा निनादः स्याद्यदा लिप्यति शान्तये ।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः श्रुतये सर्वमिच्छति ॥

यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते ।
सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते इति ॥ — *प्रणवोपनिषद्*, 12-13

अत: ॐकार की सर्वश्रेष्ठता एवं सर्वातिशयता इस उपनिषद् द्वारा सुप्रतिपादित होती है।

सभी मन्त्र प्रणव के संयोग सम्पूर्णता प्राप्त करते हैं तथा उसकी अर्धमात्रा रूप नाद तथा बिन्दु के संयोग से ही सम्पूर्ण होते हैं। ॐकार की साधना इसलिए ही ब्रह्म साधना सिद्ध होती है। *मुण्डकोपनिषद्* इसी तथ्य को प्रमाणित करती हुई कहती है—

प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन बोद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। (2.2.4)

प्रणव धनु है, शर (तीर) जीवात्मा है, ब्रह्म उसका लक्ष्य है। अत: साधक को एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य का अनुसन्धान करना चाहिये अर्थात् परम शिव रूपी लक्ष्य में जीव रूपी स्वातमा को अनुप्रविष्ट करें। जीव तथा शिव सम्मेलन में ब्रह्ममय हो जाता है। इसी तथ्य को *श्वेताश्वतरोपनिषद्* भी कह रही है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।। (1.14)

साधक अपनी देह को अरणि करके प्रणव को ऊर्ध्व अरणि कर ध्यान रूपी अभ्यास के घर्षण के अभ्यास से अग्नि पैदा करें। यज्ञ में अग्नि प्रकट करने के लिए दो अरणी काष्ठ के मध्य घर्षण कर अग्नि पैदा की जाती है उसी प्रकार साधक अपने शरीर में प्रच्छन्न ज्योतिर्मय इष्टदेव का दर्शन करे। सभी उपनिषदों की सार भूत गीता भी देहान्तकाल में जैसे ॐकार का उच्चारण, स्मरण या ध्यान से जीव की परमगति की प्राप्ति सिद्धान्तित करती है—

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्यसम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मन: प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।। — *गीता*, 8.11-13

वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्त समय में अचल मन से और योगबल के द्वारा भृकुटी के मध्य में प्राणों को अच्छी तरह से प्रविष्ट कर उस परम दिव्य पुरुष को ही प्राप्त होता है। सभी इन्द्रियों के द्वारा (विषयों) को रोककर, हृदय में मन को निरुद्धकर, भ्रुव मध्य में प्राणवायु को स्थापित कर योग के सहारे साधक को

ब्रह्मबीज ॐ एकाक्षर का जप करे या ध्यान कर देह का परित्याग करना चाहिए। उसे परमगति प्राप्त होती है। मृत्यु काल में सभी इन्द्रियाँ व्याकुल होकर निस्तेज हो जाती है तब दीर्घमन्त्रोच्चारण दु:साध्य होता है। अत: प्रणव जप ही परम पद को प्राप्त कराता है तथा सुख से साधन बनता है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में स्पष्ट कहा है—'तस्य वाचक: प्रणव:, तज्जपस्तदर्थभावनम्' (1.27-28) अर्थात् प्रणव ही ब्रह्म का वाचक शब्द है। ब्रह्म वाच्य है तथा प्रणव वाचक है। वाचक शब्द के प्रयोग से ब्रह्म ज्ञेय का साध्य होता है। ब्रह्म की उपलब्धि का साधन सामग्री प्रणव ही है। प्रणव का अर्थ विचार कर जप करना चाहिए। गीता कथन भी है 'मुझे स्मरण करते हुए जप करें।' इस प्रकार अर्थ को भावना के साथ प्रतिदिन का प्रणव जप शारीरिक एवं मानसिक विघ्नों के समूह दूर कर प्रशान्तचित्त से आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति कराता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

स्कन्द पुराण की *ईश्वर संहिता* में प्रणव कल्प के नाम से पाँच अध्याय विस्तार से प्रणव साधना को प्रतिपादित करते हैं जिसमें मुख्यत: प्रणवकवच, प्रणवहृदय, प्रणवपुरश्चरण विधि, प्रणवाष्टोत्तरशतनाम, प्रणवषोडशनाम, प्रणवगायत्री, प्रणव मालामन्त्र, प्रणवस्तवराज, प्रणवगीता, प्रणव सहस्रनाम, प्रणवयन्त्र आदि दशाङ्ग साधना का विवेचन जिज्ञासु साधकों के लिए द्रष्टव्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *प्रणवकल्प*, स्कन्दपुराणान्तर्गत, पण्डित ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1998
2. *प्रणवोपनिषद्*, 108 उपनिषद्, ज्ञानखण्ड, पं. श्रीरामशर्मा आचार्य, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, पुरावृत्ति 2015 (पृ. 227-228)
3. *प्रणवोपनिषद्*, उपनिषत्संग्रह, पण्डित जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 1998, (पृ. 30-32)
4. *मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य*, डॉ. शिवशङ्कर अवस्थी शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1986

वरिष्ठ शोध अध्येता
(भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्)
55, गोविन्द नगर, वैशाली नगर,
जयपुर-302021
दूरभाष-913970601

कलिसन्तरण उपनिषद् में प्रतिभासित आध्यात्मिक विचार

डॉ. शुभ्रजित् सेन

वैष्णव उपनिषद् सनातन धर्म के छोटे उपनिषदों में से एक हैं। यह वैष्णव उपनिषद् विष्णु धर्मतत्त्व यानी वैष्णववाद से संबंधित सनातन धर्म का उपनिषद् है। एक सौ आठ (108) मुक्तिक उपनिषदों में से चौदह (14) वैष्णव उपनिषद् मौजूद हैं।[1] वैष्णव उपनिषदों और अन्य माध्यमिक उपनिषदों को तेरह (13) मुख्य या प्रमुख उपनिषदों से अलग कहा जाता है। स्वाभाविक रूप से, ये वैष्णव उपनिषद् प्राचीन वैदिक परंपरा से भिन्न प्रतीत होते हैं।वैष्णव उपनिषद् सैद्धांतिक रूप से अन्य छोटे उपनिषदों से अलग हैं, जैसे संन्यास उपनिषद्, जो मुख्य रूप से सनातन त्याग और तपस्या प्रथाओं पर ध्यान केंद्रित करते हैं, योग से जुड़े योग उपनिषद्, शैव उपनिषद्, जो शिव से संबंधित सिद्धांतों को उजागर करते हैं और व्यक्त करते हैं।[2]

ये वैष्णव उपनिषद् विष्णु, नारायण, राम या अवतार की अभिव्यक्तियाँ हैं, जिन्हें परम ब्रह्म या सनातन धर्म की सबसे आध्यात्मिक वास्तविकता के रूप में महिमामण्डित किया जाता है। इन उपनिषदों में नैतिकता से लेकर पूजा-पद्धति तक की नैतिक चर्चा की गई है।

कुछ वैष्णव उपनिषद् कई संस्करणों में मौजूद हैं। चूंकि प्रत्येक संस्करण एक विशिष्ट क्षेत्र पर आधारित है, इसलिए एक अलग वेद को जोड़कर उनकी पांडुलिपि में एक अलग विषय जोड़ा गया है।[3] इसके अलावा, विद्वानों को इस आधार पर विभाजित किया गया है कि माध्यमिक उपनिषद् वैष्णव उपनिषद् हैं। स्वाभाविक रूप से, पॉल ड्यूसेन ने महा-उपनिषदों को वैष्णव उपनिषद् के रूप में वर्णित किया, लेकिन कार्लोस अल्बर्टो टिनोको ने उन्हें फिर से मामूली उपनिषद् के रूप में सन्दर्भित किया। मुक्तिक उपनिषदों के क्रम के अनुसार वैष्णव उपनिषद् की संघटना को परिशिष्ट में जोड़ा जाएगा।

कलिसंतरण उपनिषद् या कलिसन्तरणोपनिषद् या कलिसन्तरणोपनिषत् वैष्णव शाखा के अन्तर्गत एक उपनिषद् है। इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है। यह उपनिषद् संस्कृत भाषा में लिखित है। मुख्यत: वेदव्यास जी को उपनिषदों का द्रष्टा वा लेखक माना जाता है। यह उपनिषद् संभवत: एक हज़ार पाँच सौ ई. से पहले प्रकाश में आया। उपनिषदों ने सोलह (16)वीं शताब्दी ई. में गौड़ीय वैष्णव गुरु चैतन्य महाप्रभु की उदारता की बदौलत लोकप्रियता हासिल की। इस उपनिषद् में कलिकाल से मुक्ति पाने व कलियुग में संसारसागर को पार करने और कलिकाल के समस्त दोषों को विनष्ट करने का उपाय बतलाया गया है।

उत्तर भारत में कोलब्रुक द्वारा प्रकाशित बावन (52)उपनिषदों के संग्रह में इस उपनिषद् का कोई उल्लेख नहीं है। फिर, नारायण ने *'बिब्लियोथिका इंडिया'* ('Bibliothica India') के संकलन में जिन उपनिषदों को शामिल किया, जो दक्षिण भारत में लोकप्रिय हैं, उनमें भी यह उपनिषद् शामिल नहीं है।[4]

कलिसन्तरण उपनिषद् यजुर्वेद से सम्बन्धित शाखा का उपनिषद् है, जिसमें नारद एवं ब्रह्मा जी के संवादों को आधार बनाया गया है। इस उपनिषद् में नारद जी ब्रह्मा जी से हरि नाम की महिमा का गुणगान सुनते हैं तथा हरि के नाम जपने से ही कलियुग के दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है। हरि नाम के जप से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त किया जा सकता है। कलिसन्तरण उपनिषद् हरि नाम के गुणों के कारण ही 'हरिनाम उपनिषद्' के नाम से भी जाना जाता है। यह उपनिषद् एक छोटा सा ग्रन्थ है, जिसमें केवल तीन मन्त्रों का उल्लेख किया गया है, जो प्रभु की भक्ति का अर्थ प्रस्तुत करते हैं। जब एक बार नारद जी द्वापर युग के अन्त समय में ब्रह्मा जी के पास जाते हैं व उनसे अपनी कुछ शंकाओं का समाधान प्राप्त करने के लिए उनसे पूछते हैं कि हे भगवान् मैं कैसे इस पृथ्वी पर घूमकर कलि को पार कर पाऊंगा। इस पर ब्रह्मा जी कहते हैं कि नारद तुमने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उचित प्रश्न पूछा है जो मानव जाति के लिए भी अति आवश्यक है। अत: मैं तुम्हें इस महत्त्वपूर्ण रहस्य के विषय में बताता हूँ। जो वेदों के सार में निहित है और जिसके ज्ञान को पाकर सभी जन सरलता पूर्वक कलि के चक्र को पार करने में सक्ष्म बनेंगे तथा सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण सम्भव हो पाएगा। ब्रह्मा जी आगे कहते हैं कि परमात्मा जिसके विभिन्न नाम हैं और जो अनेक नामों से पुकारा जाता है। उसके नाम का स्मरण मात्र करने से ही समस्त दु:ख एव़ कष्ट दूर हो जाते हैं। उसी के नाम के सहारे सभी मनुष्य कलि के कल्मष से मुक्त हो पाएंगे ब्रह्मा जी का कथन सुनकर नारद मुनि उनसे पूछते हैं कि हे ब्रह्मा जी वह कौन सा नाम है जो इतना पावन एवं शक्तिशाली है तथा हम सभी को इस कलि युग के प्रभावों से मुक्त कर सकता है। इस पर ब्रह्मा जी नारद जी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं की –

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥ —*कलिसन्तरणोपनिषद्, 1*

इन सोलह शब्दों का स्मरण एवं जाप करने से ही कलि के संपूर्ण प्रभावों से मुक्त हुआ जा सकता है वेदों में इसी नाम का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प दिखाई नहीं देता। (— *कलिसन्तरणोपनिषद्, 2*) ब्रह्मा जी कहते हैं की प्रभु के इन सोलह नाम का मनन करने से कलियुग के पापों का नाश होता है। प्रभु का सुगम नाम स्मरण बिल्कुल वैसे ही कार्य करता है जिस प्रकार आकाश पर मेघों का आवरण छा जाने पर वायु का वेग मेघों को दूर हटा देता है तथा आकाश को मेघ रहित कर सूर्य के प्रकाश को चारों ओर फैलने का अवसर प्रदान करता है। अत: इसी प्रकार जब आत्मा पर माया का आवरण छा जाता है तो प्रभु के नाम का तेज उस माया को दूर कर मन को निर्मल एवं शान्त बनाता है। जिसके फलस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार संभव हो पाता है। और आत्म तत्त्व के ज्ञान फलस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो

पाती है। अपने प्रश्न के उत्तर को जानकर नारद जी ब्रह्मा जी से इस मन्त्र जप के नियम को जानने की इच्छा व्यक्त करते हैं। इस पर ब्रह्मा जी कहते हैं की इस महा मन्त्र को जपने के लिए किसी अनुष्ठान या नियम की आवश्यकता नहीं है। यह किसी भी समय एवं शुद्ध या अशुद्ध हर स्थिति में जपा जा सकता है। इस महा मन्त्र का सतत जाप करने से व्यक्ति सभी बंधनों से मुक्त हो मोक्ष की प्राप्ति करता है। जब सोलह नाम का एक सरल महा मन्त्र 3,50,00000 बार जपा जाता है तो यह व्यक्ति को सभी पापों से मुक्त कर देता है। इस मन्त्र जाप में इतनी शक्ति है कि यह मन्त्र एक ब्राह्मण या क्षत्रिय हत्या के पाप, सोने की चोरी, पूर्वजों के तिरस्कार या अन्य कोई गलत गतिविधियों में लगे होने के दोषों जैसे महा पापों को भी समाप्त कर सकता है और मनुष्य को दोषों से मुक्त कर मोक्ष का मार्ग दिखला सकता है। (—*कलिसन्तरणोपनिषद्, 3*)

कलिसन्तरणोपनिषद् प्रभु के नाम की महिमा का विशद वर्णन करता है। इस उपनिषद् द्वारा प्रभु नाम के यथार्थ का चिंतन संभव हो पाता है इसमें दिए गए प्रभु के सोलह नामों का जाप करने से व्यक्ति को मोक्ष को प्राप्त होता है। इस महा-मन्त्र को जपने से सभी संचित पापों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। व्यक्ति के सभी जन्म शुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार हरे कृष्णा महा-मन्त्र के भजन द्वारा समस्त जन भली प्रकार से और तुरंत ही अपने आप को कलियुग के महापापों से मुक्त कर पाएंगे। और यही *कलिसन्तरणोपनिषद्* का महत्त्व है।

15वीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु के भक्ति आन्दोलन के समय यह मन्त्र प्रसिद्ध हुआ। यह अति पवित्र मन्त्र है । क्योंकि इसमें भगवान् के बहुत से नाम एक साथ आ जाते हैं हालांकि भगवान् के मुख्य नाम राम, कृष्ण, शिव, नारायण , हरि भी सार्थक है कलियुग के लिए।

सनातन ब्रह्माण्ड विज्ञान के अनुसार, चार युगों का वर्तमान कलि है। 'सन्तरण'शब्द का अर्थ 'तैराकी'है। इस उपनिषद् पाठ के माध्यम से तैर कर वर्तमान युग को पार किया जा सकता है। कलि संतरण' शब्द का अर्थ है—कलियुग के बुरे प्रभावों को दूर करना।

व्युत्पत्ति के अनुसार, 'हरे' शब्द 'हारा' शब्द को दर्शाता है। इसका अवतार कृष्ण की शक्ति ('नाद शक्ति') राधा है। कलि-सन्तरण मन्त्र में राधा का नाम आठ बार लिया गया है। यह मुझे दिव्य प्रेम की याद दिलाता है। यह मन्त्र सनातन धर्म के गौड़ीय वैष्णव समुदाय में विशेष रूप से लोकप्रिय है। गौड़ीय वैष्णव परम्परा के अनुसार मन्त्र का उच्चारण जोर से करना होता है। क्योंकि, इस समुदाय के अनुयायी सोचते हैं, मन्त्र का शब्द बोलने वाले और सुनने वाले को मुक्त कर देगा।

मुख्य उपनिषदों की तरह, इस उपनिषद् का मुख्य लक्ष्य ब्रह्मज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार है। जैसा कि अन्य उपनिषदों ने ज्ञान के मार्ग पर चर्चा की है, *कलिसन्तरण उपनिषद्* ने भक्ति का मार्ग अपनाया है। सामान्य तौर पर, उपनिषदों में, 'नेति' - 'नेति' को मुक्त होने या नश्वर से अमर होने की सलाह दी जाती है, उस पूर्ण ब्रह्म की खोज करके न्याय किया जाता है। उसी तरह, कलिसन्तरण में दी गई सलाह निर्णयात्मक नहीं है, बल्कि ईश्वरवाद की

भक्ति के साथ दुनिया के निर्माता आदिदेव नारायण का स्मरण मात्र है। बिस्तर में, सपनों में, नींद में, जागने में, काम में, फुरसत में, कैसी भी स्थिति हो, उसका नाम कहो। इसलिए वैष्णव समाज में कहा गया है—

घर पर रहें या जंगल में
मुझे हमेशा हरि बुलाओ।

चाहे आप कहीं भी हों, आपको इष्ट या आराध्या को नहीं भूलना चाहिए। जीवन तेज है। भागती-दौड़ती जिंदगी में सुख-दु:ख एक गतिशील चक्र की तरह घूमते हैं। चक्रीय परिवर्तन में 'सुखानि च दु:खानि च' गीत वैष्णव शैली में समाप्त हुआ है -

खुश रहो और दुखी रहो
मुझे हमेशा हरि बुलाओ।

उपनिषदों ने न केवल वैष्णव समाज की जीवन-शैली में प्रवेश किया है, बल्कि कहा जा सकता है कि वे छिद्रों से प्रवाहित हुए हैं।

यह नाम, जो दिन-रात अविनाशी है, मूलाधार जड़ की गुप्त कुल-कुण्डलिनी को ऊँचा करेगा, ध्वनि को बढ़ाएगा, निर्जीव वायु को सजीव वायु से मिलाएगा और नामधारी को ब्रह्मधाम ले जाएगा। इसे 'नामयज्ञ' कहा जाता है। सामान्य अर्थ में हमारा तात्पर्य अग्निकुंड में घृताहुति चढ़ाने के लिए यज्ञ से है। कलियुग में नामरूप यज्ञ में प्रेम रूपी यज्ञ करने से इसकी विशिष्टता सिद्ध हुई है।

एक अन्य दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि इस नामयज्ञ का नाम तारकब्रह्म है, जिसका अर्थ है जन्म, क्षय और रोग से मुक्ति। इसे भगवद्धर्म कहते हैं। वास्तव में, सभी उपनिषदों का सार श्रीमद्-भगवद्गीता में निहित है।

भगवान् कृष्ण ने एक बार अर्जुन से कहा था, "यह जानकर कि ईश्वर ही सच्चा वचन है, मोक्ष तो भगवान् की भक्ति का अपरिहार्य परिणाम है, इसलिए भगवान् की शरण लें।"आपको और कुछ नहीं करना है। तन-मन-वाक्य में कहो—मैं तुम्हारा आश्रय हूँ, तुम मेरे ज्ञान-अज्ञान को, मेरे पाप-पुण्य को स्वीकार करो। ऐसा लगता है जैसे भगवान् कृष्ण ने उपनिषदों में अमरता के संकेत के रूप में उद्धृत किया है –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि मा शुचः'।।[5]

धर्म, जाति या मठ से लेकर जो कुछ भी साध्य है, सब कुछ त्याग दो और मेरा एकमात्र आश्रय बनो—मेरे नाम का उच्चारण करो। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा।

युग के परिभ्रमण के परिणामस्वरूप सत्य, त्रेता, द्वापर युग के बाद आया कलियुग। इस युग में, लोग अल्पकालिक और अन्नगत प्राण होते हैं। भोजन का रस जब तक शरीर में रहता है, तब तक जीव स्मृति में रहते है। सांसारिक जीवन मे हम त्रस्त हैं। भोजन की समस्या से ग्रस्त होने के कारण सभी को अबाधित आश्रम धर्म का पालन करने का अवसर नहीं मिलता है। तपस्वियों के लिए कोई राहत नहीं है। इसलिए उपनिषदों ने सभी मुक्तिकामी लोगों को उनके पसंदीदा, उनके नाम पर उनके भक्त होने का आदेश दिया। वह सबका उद्धारकर्ता है। उसमें आप हैं और आप में उसकी समान स्थिति। यदि आप उनके नाम के उच्चारण से उनके प्रिय बनकर उनके भक्त बन सकते हैं, तो आप उनके साथ फिर से जुड़ जाएंगे, आपको धर्मशास्त्र और मोक्ष की प्राप्ति होगी।

श्रुति में रही हैं अमानता कलियुग में धर्म एक पादविशिष्ट होगा। अधर्म की प्रधानता में धर्म म्रियमाण होगा। लोग अंधे, कुटिल और स्वार्थी हो जाएंगे। जगत् स्रष्टा को भुला दिया जाएगा और स्वार्थ में लिप्त हो जाएगा। कितना भयानक है यह कलिकाल। जिसकी अभिव्यक्ति हम इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में महसूस कर सकते हैं।

देवर्षि नारद एक दिन यात्रा करते हुए ब्रह्मा के पास पहुंचे और पूछा—भगवान्, कलि के प्रभाव से छुटकारा पाने का क्या उपाय है? नारद का यह प्रश्न सुनकर ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उत्तर में कहा—'हे वत्स! तुमने आज मुझसे अत्यन्त प्रिय बात पूछी है। आज मैं समस्त श्रुतियों का जो अत्यन्त गुप्त रहस्य है, उसे बतलाता हूँ, सुनो। इसके श्रवण मात्र से ही कलियुग में संसारसागर को पार कर लोगे।[6] नारायण इस ब्रह्माण्ड के पूर्वज हैं। वह स्थावर—जङ्गम से देव-मानुष-गन्धर्व प्रभृति का मूल कारण है। भगवान् आदि पुरुष श्रीनारायण के पवित्र नाम के उच्चारण मात्र से मनुष्य कलिकाल के समस्त दोषों को विनष्ट कर डालता है[7]। नारद ने पूछा—उस नाम का उच्चारण कैसे करें? उत्तर में ब्रह्मा ने कहा—

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।[8]

यह सोलह नाम जीव के लिए महान् नाम और मन्त्र है। इन सोलह नामों का जप करने से कलि की आत्मा सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाएगी —'षोडशकं नाम्ना कलिकल्मषनाशकम्', अर्थात् इस प्रकार ये सोलह नाम कलिकाल के महान् पापों का विनाश करने में सक्षम हैं। इससे श्रेष्ठ अन्य कोई दूसरा उपाय चारों वेदों में भी दृष्टिगोचर नहीं होती। इन सोलह नामों के द्वारा षोडश कलाओं से आवृत जीव के आवरण समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर जिस प्रकार मेघ के विलीन होने पर सूरज की किरणें ज्योतित होने लगती हैं, वैसे ही परब्रह्म का स्वरूप भी दीप्तिमान् होने लगता है।[9]

यह महामन्त्र न केवल *कलिसन्तरण उपनिषद्* में बल्कि *अग्निपुराण* (हरे-कृष्ण मन्त्र) में भी उपलब्ध है—

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
रटन्ति हेलया वापि ते कृतार्था न संशयः।।

ये सोलह नाम सर्वोच्च भगवान् की सोलह कलाएँ हैं। इन सोलह कलाओं में सनातन समाहित हैं। इस नाम से जो जीव इन्द्रियों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए अंधेरे में आच्छादित है, उसका तिमिरावरण गायब हो जाता है। रात के अँधेरे के अन्त में, जैसे आकाश में तेज सूरज चमकता है, ऐसे प्राणी का हृदय भी आकाश में प्रकट होता है, ज्योतिर्मय परमब्रह्म।

देवर्षि नारद जी ने पुनः प्रश्न किया–हे प्रभु! इस मन्त्र नाम के जप की क्या विधि है? ब्रह्माजी ने कहा इस मन्त्र की कोई विधि नहीं है। शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, हर स्थिति में इस मन्त्र–नाम का सतत जप–करने वाला मनुष्य सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य आदि सभी तरह की मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जब साधक इस षोडश नाम वाले मन्त्र का साढे तीन करोड़ जप कर लेता है, तब वह ब्रह्म–हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है। वह वीरहत्या (या भाई की हत्या) के पाप से भी मुक्त हो जाता है। स्वर्ण की चोरी के पाप से भी मुक्त हो जाता है। पितर, देव और मनुष्यों के अपकार के पापों (दोषों) से भी मुक्त हो जाता है। समस्त धर्मों के त्याग के पाप से वह तुरन्त ही परिशुद्ध हो जाता है। वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ऐसे कथन वाली ही यह उपनिषद् है[10]। इसलिए धर्मत्याग का पाप शीघ्र ही दूर हो जाएगा। इस नाम उच्चारण के परिणामस्वरूप सद्य मुक्ति होगी—

सर्वधर्मपरित्यागपापात् सद्यः शुचितामाप्नुयात्।
सद्यो मुच्यते, सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत्।।[11]

वैष्णव उपनिषदों में वैष्णवों की पूजा पद्धति की चर्चा *अर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद्* और *कलिसंतरणोपनिषद्*[12] में की गई है। लेकिन किसी भी प्रमुख उपनिषद् ने पूजा की इस पद्धति की चर्चा नहीं की है।

तथ्यसूत्र

1. Paul Deussen, *'Sixty Upanishads of the Veda'*, p - 556
2. Moriz Winternitz; V. Srinivasa Sarma,*'A History of Indian Literature'* (1996), pp-217-24
3. Ibid, pp- 566-67
4. Paul Deussen, V.M.Bedekar and G.B.Palsule (1997) *Sixty Upanisads of the Veda,* pp-561-564
5. *श्रीमद्भगवद्गीता* (18.66)
6. स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। (*कलिसन्तरणोपनिषत्*, 1)

7. भगवत आदिपुरुषनारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति। (तत्रैव)
8. तत्रैव
9. नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥ षोडशकलावृत्तस्य जीवस्यावरणविनाशनम्। ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति। (तत्रैव, 2)
10. पुनर्नारदः पप्रच्छ – भगवन् कोऽस्य विधिरिति ।तं होवाच नास्य विधिरिति । सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यमेति। यदास्य षोडशकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। वृषलीगमनात् पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात् पूतो भवति । (*कलिसन्तरणोपनिषत्*, 3)
11. तत्रैव
12. Translated by K. narayanasvami Aiyar, Copyright 2002-2008 Celextel Enterprises Pvt. Ltd. – Vedanta Spiritual Library. "*English translation of the Kali Santarana Upanishas*''.www.celextel.org. Archived from the original on 27 June 2022. Retrieved 20 June 2022.

ग्रन्थपञ्जिका

Deussen, Paul; Bedekar, V.M.; Palsule. G.B. (1997). *Sixty Upanishads of the Veda*, MLBD, Delhi.

Hume, R.E. (1934). (Trans) *The Thirteen Principal Upaniaṣds*, Oxford.

K.Koushik. (2020). Independently Published.

Khanna, Madhu (2011). *Thirty Minor Upaniṣads*, Tantra Foundation, New Delhi.

Kunhan Raja, C (1933). Unpublished Upaniaṣds, The Adyar Library, Madras.

Madhavananda, Swami (1988). *Minor Upaniṣads*, Advaita Ashrama, Kolkata.

Manohar, Mrinalini V.(2011). *The Earlier and Later Upaniṣads*, Bharatiya Kala Prakashan, Delhi.

Olivelle, Patrick (1953). *The Principal Upaniṣads*, New York.

Radhakrishnan, S (2006). *The Principal Upaniṣads*, Harper Collins Pub., India.

सहायक अध्यापक, संस्कृत विभाग,
गोडबङ्ग विश्वविद्यालय, मोकदुमपुर
पो. मालदा, (पश्चिमबङ्ग)-732101
दूरभाष : 8100232021

वैष्णवागम में नाडीचक्र-विज्ञान

योगेश प्रसाद पाण्डेय

ध्यान की एकाग्रता के लिए 'नाडीयोग अनिवार्य है। वैष्णवागमों के अनेक शास्त्रों में कहीं पर नाडीचक्र का वर्णन एक साथ तो कहीं-कहीं पर नाडी-विज्ञान एवं चक्र-विज्ञान अलग-अलग स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। महर्षि मरीचि प्रणीत *विमानार्चनाकल्प* में नाडियों का वर्णन एक स्थान पर तो नाडियों में प्रवाहित होने वाले दस प्रकार वायु का वर्णन, अन्यत्र तो शरीरस्थ चक्रों का वर्णन अन्य स्थान पर प्राप्त होता है। जैसा कि- 'अथातो नाडीचक्रं वक्ष्ये'[1] इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ देहस्थ नाडीचक्र का निरूपण शुरू किया गया है। कहा है कि कन्द से उद्भूत बहत्तर हजार नाडियाँ हैं। इन नाडियों में अधोलिखित मुख्य है—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा तथा गान्धारी। इनमें भी प्रथम तीन प्रमुख कही गई हैं। इन तीनों के मध्य सुषुम्ना को प्रमुख कहा गया है। यह नाडी वैष्णवी, सात्विकी, तथा मुक्तिमार्ग-प्रदायिनी है। यह सुषुम्ना कन्द-मध्य में पद्मसूत्र के समान वीणादण्डान्त निर्गत तन्त्री अलाबू की तरह वंश-अस्थि के साथ मूर्धा के अन्त तक स्थित है। उनके दक्षिण भाग में दक्षिण नासा में पिङ्गला की स्थिति होती है। उस पिङ्गला में सूर्य प्राण का संचरण होता है। सुषुम्ना के वामभाग में वाम नासा के भीतर इडा की स्थिति होती है। इडा में चन्द्र की स्थिति कही गयी है। ये दोनों राजस तथा तामस, विष तथा अमृत भाग दिवारात्रि के रूप में वर्णित हैं। सुषुम्ना के पूर्व भाग में ऊपर से नीचे की ओर मेढ्रान्त तथा कुहू का विस्तार है। अपर भाग में ऊपर से नीचे की ओर जिह्वान्त तक सरस्वती की स्थिति बताई गयी है। पिङ्गला के पूर्वभाग में ऊपर से नीचे की ओर दक्षिण-पादाङ्गुष्ठान्त यशस्विनी तथा अलम्बुषा स्थित रहती है। अपर भाग में दक्षिण नेत्रान्त तक पूषा की स्थिति कही गयी है। यशस्विनी तथा कुहू के मध्य में ऊपर की ओर जाती हुई सर्वगामिनी दक्षिणपाणि के अङ्गुष्ठान्त तक वारुणी की अवस्थिति होती है। पूषा तथा सरस्वती के मध्य में दक्षिण कर्णान्त तक पयस्विनी विद्यमान रहती है। इडा के पूर्व भाग में ऊपर से नीचे की ओर वाम पादाङ्गुष्ठान्त तक हस्तिजिह्वा की स्थिति रहती है। अपर में वाम नेत्रान्त तक गान्धारी की अवस्थिति होती है। हस्तिजिह्वा तथा कुहू के मध्य नीचे से ऊपर की ओर वाम पाणि अङ्गुष्ठान्त सर्वगामिनी विश्वोदरा की स्थिति निर्दिष्ट है। गान्धारी तथा सरस्वती के मध्य वाम कर्णान्त गई हुई शंखिनी की अवस्थिति है। कन्द के मध्य ऊपर से नीचे की ओर पायुमूलाग्र तक गई हुई अश्वत्थपत्र की शिरा की तरह समुत्पन्न सर्वगामिनी अलम्बुषा कही गई है।[2]

वैष्णवागमीय अन्य शास्त्र में नाडी-विज्ञान की उपादेयता वर्णन क्रम में कहा है कि—

प्राणायामप्रसिद्ध्यर्थं नाडीशुद्धिमनन्तरम्।
देहस्थवायुभिः कुर्यात् साग्निभिश्च तपोधन।।[3]

अर्थात् प्राणायाम की सिद्धि के लिए प्रथम नाडी शुद्धि कर ले। फिर साधक देह अग्नि के सहित देहस्थ वायु के द्वारा प्राणायाम करे। यहाँ पर नारद-अहिर्बुध्न्य संवाद स्वरूप नारद जी के पूछने पर अहिर्बुध्न्य जी के शरीर का परिमाण के बारे में बताते हुए नाडीचक्र का वर्णन करते हैं जैसा कि—हे नारद! सभी जन्तुओं का शरीर स्वस्थ रहने पर उनकी-उनकी अङ्गुलियों के प्रमाणानुरूप चौरासी अङ्गुल का मान होता है। हे महामुने! यदि आपको इस बात की शुश्रूषा (सुनने की इच्छा) हो कि शरीर का मध्य भाग कहाँ है? तो उसे सुनिए। वायु स्थान से दो अङ्गुल परे और मेढ्र स्थान से दो अङ्गुल नीचे शरीर का मध्यस्थान माना गया है। चतुष्पदों (जानवरों) का आग्नेयमण्डल चतुष्कोण, मनुष्यों का आग्नेयमण्डल त्रिकोण तथा पक्षियों का आग्नेयमण्डल वृत्ताकार होता है। मेढ्र से नव अङ्गुल ऊपर सभी नाडियों का कन्द है। जिसकी ऊँचाई चार अङ्गुल तथा लम्बाई भी चार अङ्गुल तथा मोटाई भी चार अङ्गुल है। वह मेद, मांस अस्थि तथा शोणित से परिपूर्ण है तथा अण्डे के आकार में स्थित है। उसी में 12 अरों वाली नाभिचक्र प्रतिष्ठित है। उसी के द्वारा शरीर धारण किया गया है। उसी में कुण्डली निवास करती है। सुदर्शन मन्त्र में जितने भी वर्ण कहे गये हैं, उन्हीं स्वर व्यञ्जन वर्णों को प्रविभक्त कर इस चक्र के पूर्वादि स्थित अरों में क्रमशः विन्यस्त करें तथा जो शेष रहे उसे चक्र के मध्य में समाहित चित्त हो विन्यस्त करें। ऐसे चक्र के चारों ओर आठ मुख वाली कुण्डली का निवास है। यह विष्णु देवताक कुण्डली आठ प्रकृति वाले भोग (=फन) से उस चक्र को घेरकर सुषुम्ना से जाने वाले ब्रह्मरन्ध्र को अपने मुख से आच्छादित किये हुए है। अलम्बुसा और सुषुम्ना ये दो नाडियाँ चक्र के मध्य में रहती है। सुषुम्ना के तथा पूर्व वाले के मध्य अरों में कुहू नामक नाडी का निवास है। उसके बाद वाले अरे में यशस्विनी एवं वारुणा नाडी का निवास है। सुषुम्ना तथा दक्षिण वाले अरे में क्रमशः पिङ्गला का निवास है। पुनः उसके बाद वाले दो अरे में पयस्विनी तथा पूषा का निवास है। सुषुम्ना तथा पश्चिम वाले अरे के मध्य में सरस्वती नाडी का निवास है उसके बाद दो अरों में शङ्खिनी तथा गान्धारा नाडी का निवास है। सुषुम्ना तथा उत्तर के अरे के मध्य में इडा नाम की नाडी है। उसके अनन्तर वाले अरे में हस्तिजिह्वा तथा विश्वोदरा का निवास है। इस प्रकार चक्र के द्वादशारों में दाहिने क्रमानुसार ये बारह नाडियाँ जो ब्रह्मदेव की कन्यायें कही जाती है स्थित हैं।[4]

इसके बाद शरीरस्थ मुख्य नाडियों के विषय में कहते हैं कि—

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च सरस्वती।
कुहूः पयस्विनी चैव वारुणा च यशस्विनी।।
विश्वोदरा हस्तिजिह्वा गान्धारी शङ्खिनी तथा।
अलम्बुसा च पूषा च मुख्यास्त्वेताश्चतुर्दश।[5]

अर्थात् इडा, पिङ्गला सुषुम्ना, सरस्वती, कुहू, पयस्विनी, वारुणा, यशस्विनी, विश्वोदरा, हस्तिजिह्वा, गान्धारी, शंखिनी, अलम्बुसा तथा पूषा ये 14 नाडियाँ मुख्य नाडियाँ कही गयी हैं पुन: नाडियों के विषय में कहा गया है कि—

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीनां देहवर्तिनाम्।।
तासु तिस्रो मुख्यतमा: सुषुम्नेडा च पिङ्गला।
तासां सुषुम्ना मुख्या स्यादामूर्धान्तं व्यवस्थिता।।[6]

अर्थात् ऐसे तो शरीर में रहने वाली कुल 72 हजार नाडियाँ कही गयी हैं। जिसमें सुषुम्ना, इडा और पिङ्गला ये तीन नाडियाँ मुख्य हैं। इन तीनों में भी सुषुम्ना मुख्य है जो मूर्धान्त चली गयी है।

अहिर्बुध्न्य जी ने शरीर में स्थित दस वायु का नाम, स्थान, करण, नाडी शोधन एवं वायु पर विजय प्राप्ति करने के उपाय वर्णन क्रम में कहते हैं कि—

श्रूयतां वायुवृत्तान्त: शरीरान्तरवस्थित:।।
प्राणापानसमानाश्चाप्युदानो व्यान एव च।
नाग: कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जय:।।[7]

अर्थात् शरीर के भीतर रहने वाले वायु का वृत्तान्त सुनिये। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय ये दस वायु शरीर के भीतर सञ्चरण करते हैं।

वैष्णवागमीय शास्त्रांतर में तीनों नाडी (इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना) के माध्यम से तीन मास तक प्राणायाम के अभ्यास द्वारा जब नाडी शुद्धि हो जाती है तब योगियों के शरीर में कुछ चिह्न प्रकट होते हैं जैसे कि शरीर की लघुता, कृषता, दीप्तिता (प्रकाशवान्) एवं जठराग्नि की समृद्धि इत्यादि।[8] इस प्रकार नाडी चक्र का सम्बन्ध प्राणायाम क्रिया से है। इसीलिए कुछ वैष्णवागमों में नाडी शुद्धि के बाद प्राणायाम सिद्धि करने का निर्देशित क्रम में प्राणायाम विधि में ही नाडी चक्र विज्ञान विषय को समाहित कर लिया गया है।[9]

वैष्णवागमीय तन्त्रागम के अन्तर्गत *गौतमीय महातन्त्र* में नाडीचक्र-विज्ञान के सन्दर्भ में कथन है कि—

त्रिंशत्कोटयस्तदङ्केन शरीरे नाडयो मता:।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्रो व्यवस्थिता:।।

अर्थात् इस शरीर में तीस करोड़ नाडियाँ हैं उनमें से दस नाडी मुख्य है। उन दस में से भी तीन प्रमुख है। शरीर के मेरुदण्ड के अन्तर्गत (इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना) चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि स्वरूप में वह अमृत विग्रहा शक्ति स्वरूपा नाडी प्रवहमान है।

शरीरस्थ मेरुदण्डानुरूप वामनासा इडा नाडी स्त्री स्वरूपिणी चन्द्र विग्रह, दक्षिण नासा, पिङ्गला नाडी पुरुष स्वरूप, सूर्य विग्रह एवं उभयात्मक सुषुम्ना नाडी, मेरुदण्ड मध्यस्थिता, ब्रह्मविग्रहा, सर्वतेजमयी योगियों के हृदयंगमा है। यह ब्रह्मस्वरूपिणी, सर्वदेवमयी तत्त्वरूप से, विसर्ग से लेकर बिन्दु तक त्रिगुणात्मिका (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) शक्तित्रयात्मिका करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशवाली स्वयंभू लिङ्ग रूप में मूलाधार चक्र पर विराजमान है। ठीक उसके ऊपर शिखाकार, श्यामविग्रह कृष्णात्मिका, कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। इस कुण्डलिनी शक्ति को नाड़ी शुद्धिपूर्वक प्राणायाम क्रिया द्वारा जागृत करके योगी क्रमश: स्वाधिष्ठान, मूलाधार, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र एवं सहस्रार चक्र पर्यन्त ले जाता है तब योगी को पूर्ण ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है एवं परमात्मा के साथ सायुज्यता प्राप्त करता है। इस प्रकार इस उत्तम योगमार्ग का वर्णन गौतम महर्षि के पूछने पर देवर्षि नारद जी उनको उपदेशित करते हैं।[10]

इसी प्रकार नारदीय पाञ्चरात्र के अन्तर्गत नारद-महादेव संवाद क्रम में नारद के पूछने पर महादेव जी नारद जी को नाडीचक्र विज्ञान का उपदेश देते हैं कि-

शृणु नारद वक्ष्यामि योगधारणमुत्तमम्।
तिस्रकोटयस्तदर्धेन शरीरे नाडयो मता:।।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासु तिस्त्रोऽभ्यवस्थिता:।।

अर्थात् श्रीमहादेव जी बोले; हे नारद! सुनो, अब मैं श्रेष्ठ योग धारण को बता रहा हूँ। शरीर में साढ़े तीन करोड़ नाडियाँ होती हैं। इनमें से दश प्रधान हैं और इन दस में भी तीन ही सर्वप्रधान हैं। ये तीनों मेरुदण्ड में स्थित हैं और चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि रूपिणी हैं। शक्तिरूपा वामनाडी साक्षात् अमृत विग्रहा कही गयी है। दक्षिण (दाहिनी) पिङ्गला नाडी पुंरूपा है और इसे सूर्य नाडी कहते हैं। मेरु के मध्य में जो सुषम्णा नाड़ी है वह ब्रह्मस्वरूपिणी है। इसकी मुनियों ने अत्यधिक प्रशंसा की है। इसे विशतन्तु भी कहते हैं और यह दाडिम के पुष्प के समान होती है। यह मूलाधार तक जाती है। इस सर्वतेजोमयी और बहुरूपिणी सुषुम्ना नाड़ी में एक अन्य अमृत प्लाविनी शुभ नाडी स्थित है। जिसे चित्रा या विचित्रा कहते हैं। यह सर्वदेवमयी और योगियों के लिए हृदयंगम करने योग्य है।

ऐसा ही कुछ योगज्ञान कथन प्रसंग में महादेवजी नारद जी से कहते हैं कि—

योगज्ञानं च दुर्बोधमसतां विषमं परम्।
श्रूयतामिदमेवेति वक्ष्यामि च यथागमम्।।

अर्थात् श्रीमहादेवजी बोले—योगज्ञान दुर्बोध है और दुर्जनों के लिए तो यह अत्यन्त विषम है। मैं आगम के अनुसार इसे कहूँगा, तुम सुनो। अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, इष्टार्थसाधन, सृष्टि पतन, मनोजयित्व, परकायप्रवेशन, प्राणियों को प्राणदान,

प्राणियों का प्राणहरण, काय व्यूह, वाक्सिद्धि- ये सत्रह सिद्धियाँ कही गयी हैं। ये सब कृष्णभक्ति में व्यवधान डालने वाली हैं, अत: भक्तों के लिए अभीष्ट नहीं है। हे मुने! कृष्णभक्त तो कृष्ण की भक्ति और उनके दासत्वभाव को ही चाहता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा ये षट्चक्र कहे गये हैं। हे मुने! ये चक्र कुण्डलिनी शक्ति से युक्त होकर स्व-स्व स्थान पर स्थित हैं। योग के विद्वानों ने इन्हें नियत योगोपयुक्त कहा है। मेढ्या नाडी वह है जो मन से युक्त होकर प्राणियों में श्रेष्ठ निद्रा उत्पन्न करती है। ईडा वह है जो मन से युक्त होने पर प्राणियों में तीव्र क्षुधावर्धन करती है। पिङ्गला मन से युक्त होकर प्राणियों में तृष्णा की जननी होती है। सुषुम्णा मन से युक्त होकर निद्राभङ्ग कर देती है। सुस्थिरा मन से युक्त होकर मनुष्य सम्भोगेच्छा की वृद्धि करती है। सुस्थिरा मन से युक्त होकर मनुष्य में विचेतना उत्पन्न करती है। मन इन छ: नाडियों में क्रम से भ्रमण करता रहता है, परन्तु इसमें कोई यथा संख्या व्यवस्था नहीं है—अर्थात् मन किसमें कितनी देर भ्रमण करेगा, इस विषय में कोई नियम नहीं है। मन तो स्वेच्छाधीन और चञ्चल है। हे नारद! योनि और शिश्न के ऊपर मूलाधार का स्थान है। स्वाधिष्ठान नाभि देश में और मणिपूर वक्ष स्थल में स्थित है; उसके ऊपर अनाहत का स्थान है। विशुद्धि चक्र कण्ठदेश में स्थित है। दोनों चक्षुओं के मध्य आज्ञाचक्र का स्थान कहा गया है। इडानाडी मूलाधारमें पिङ्गला स्वाधिष्ठान में स्थित है। सुषुम्णा मणिपुर में और सुस्थिरा अनाहत चक्र में स्थित है। चञ्चला और मध्या विशुद्धि चक्र में स्थित कही गयी है। योगविदों ने इस प्रकार नाडियों की स्थितियों को कहा है—नाडीयुक्त चक्रों में वायु निरन्तर विचरता रहता है; किन्तु जब वह आज्ञा चक्र में बद्ध हो जाता है तब प्राणियों की मृत्यु हो जाती है। योगी इस वायु को निश्वासबद्ध कर धारण कर लेता है। अत: वायु पर इस प्रकार नियन्त्रण कर लेने से उसकी मृत्यु नहीं होती। वायु को इस प्रकार नियन्त्रित करना भी चाहिए। बह्निस्तम्भ, जलस्तम्भ, मृदास्तम्भ, मन स्तम्भ तथा वायु स्तम्भ आदि अनेक प्रकार के स्तम्भों को योगी जानता है। सहस्रदल पद्म सभी के मस्तक में स्थित है और वही सूक्ष्मरूप से गुरु भी सदैव स्थित रहता है। नर सर्वत्र उसी गुरु का प्रतिबिम्ब स्वरूप होता है। शिष्यों की हितकामना के लिए स्वयं कृष्ण ही गुरु रूप में रहते हैं।[11]

इस प्रकार वैष्णवागमों (वैखानस आगम, पाञ्चरात्रागम) में नाडीचक्र विज्ञान का जिस तरह वर्णन मिलता है उससे यह ज्ञात होता है कि वैष्णवागम भक्तियोग प्रधान होने के कारण जिस तरह शैव एवं शाक्तागमों में तथा अन्यत्र योग शास्त्रों में नाडीचक्र विज्ञान का वर्णन उपलब्ध होता है उससे न्यूनाधिक्य अलग स्वरूप में प्रतिपादित है। वैष्णवागमों में औपनिषदीय योग चतुष्टय में से अत्यधिक मात्रा में मन्त्रयोग एवं लययोग का आधिक्य तथा आगमिक साधन चतुष्टय में से ज्ञान एवं योग की अपेक्षा क्रिया एवं चर्या की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। अत: योगशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले नाडी चक्र विज्ञान का वर्णन कहीं पर स्पष्ट रूप से तो कही पर अस्पष्ट रूप से अर्थात् (प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, पूर्ण-अपूर्ण) एवं कही पर विधिवत् वर्णन तो कहीं पर केवल संकेत मात्र से प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि वैष्णव योगियों की मान्यता है कि भगवान् विष्णु की भक्तिमात्र से सम्पूर्ण योगों का आलम्बन हो जाता है। उनकी कृपा से ही योग साधन से प्राप्त सम्पूर्ण सिद्धियाँ यूँ

ही प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु वैष्णव योगी सिद्धियों को अनदेखा करके उनकी माया से ऊपर उठकर विष्णु के उस परम पद को प्राप्त करता है। इसी कारण यौगिक प्रक्रियाओं का वर्णन वैष्णवागमों में न्यूनाधिक्य परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ

1. *विमानार्चनाकल्प*, पटल- 92.
2. *विमानार्चनाकल्प*, पटल- 92.
3. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, अध्याय 31, श्लोक सं. 47.
4. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, अध्याय 32, श्लोक सं. 4-17.
5. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, अध्याय 32, श्लोक सं. 18-19.
6. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, अध्याय 32, श्लोक सं. 20-21.
7. *अहिर्बुध्न्यसंहिता*, अध्याय 32, श्लोक सं. 31-32.
8. *श्रीप्रश्नसंहिता*, अध्याय तीन, श्लोक सं. 36-38.
9. *नारदीयसंहिता, विष्णु संहिता, लक्ष्मीतन्त्र, सात्वतसंहिता, विश्वामित्र संहिता, विष्वक्सेन, पौष्करसंहिता, कृष्णयामल, जयाख्यसंहिता, मार्कण्डेय संहिता* अध्याय 18, पद्मोद्भवसंहिता पटल- 8.
10. *गौतमीयमहातन्त्र*, अध्याय 32, श्लोक सं. 34-60.
11. *नारदीय पाञ्चरात्र*, रात्री 2, अध्याय 8, श्लोक सं. 1-20.

शोधच्छात्र,
वैदिकदर्शन विभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

धर्मविज्ञानस्य स्वरूपविमर्शः

प्रो. शीतलाप्रसादपाण्डेय

सनातन धर्मे धर्मस्यार्थो नैतिकाचरणं वर्तते। यः सनातनो विद्यते, असावेव धर्मो विद्यते शेषान्ये सम्प्रदायाः सन्ति। ते सर्वे आनुषङ्गिकाः प्रतीयन्ते। भारतीयपरम्परायां धर्मस्यार्थो नैतिकता विद्यते (Righteousness)। पूजापद्धतिरपि नास्ति, अपितु सम्प्रदायविषयोऽस्ति। वैदिकसंहितासु धर्माय प्रायशः ऋतशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते। असौ सार्वभौमसत्यस्य बीजः (आद्यः) नियमोऽस्ति खलु। अस्य प्रयोगः सत्यस्य युतौ संजात इति- ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो आर्णवः।[1]

तपसा ऋतं सत्यं चाजायेताम्। ततः परं रात्रिः प्रकटिता, अनन्तरं समुद्रश्च संजायत। ऋतस्यार्थो स्थिरः, निश्चितः, नियमश्च। ब्रह्माण्डस्य नियामकतत्त्वम्। विश्व-व्यवस्था। मनुष्यसन्दर्भे प्राकृतिको नैतिकनियमः। नियमोऽसौ मानवं निर्माति। नैतिकसामाजिकव्यवस्थयोः मेरुदण्डरूपेण कार्यं कुरुते। ऋत-समुद्भूतधर्मशब्दस्तत्त्वतः ऋतस्यैव समानार्थी विद्यते। धृ-धातौ मन् प्रत्ययस्य योजनेन धर्मशब्दः समुत्पद्यते। ध्रियते लोकोऽनेन या धरति लोकं इति धर्मः। यो लोकं धारयति, स धर्मः। मनुष्यार्थे समुद्दिष्टगुणम् इति। यथा—लवणस्य समुदिष्टगुणं लावण्यं वर्तते। शर्करायाः समुद्दिष्टगुणं माधुर्यं च वर्तते। तथा मनुष्यस्य समुद्दिष्टगुणं मनुष्यतास्ति। मानवे नैतिकबोधाभावेऽसौ पशुसमानो भवति। कुतः समायाति नैतिकबोधः? विवेकात् समायाति। शङ्कराचार्यः कथयति यत्—येषां चित्ते नैव विवेकस्ते पच्यन्ते नरकमनेकम्। अर्थात् विवेकरहितो मनुष्यो नरकं प्रयाति। अस्यैव चर्चा *रामायणेऽपि* शुको रावणाय कथयति यत्—देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः।[2] विवेकबुद्धिरेव मानवस्य महत्तास्ति।

महाभारते निर्दिष्ट यत्—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥[3]

कथनस्य तात्पर्योऽयमस्ति यत्—सांसारिककर्मसु तु सामान्यपशवश्चापि संलग्नाः सन्ति, परन्तु वयं तु मानवाः स्मः। यदि मानवजीवनं सम्प्राप्यापि एतान्येव कर्माणि सम्पादयिष्यामश्चेत् पशुमानवयोः पृथक्ता न भवति। अतो धर्मपालनं मानवानां प्रमुखकर्तव्यमस्ति। एषैव शिक्षा धर्मविज्ञानविषयात् समुपलभ्यते।

'**यदीहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्**' अस्य श्लोकस्य प्रणेता भगवान् वेदव्यासः समुद्घोषयति यत् धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् इति।

अनिरोधिनुयो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः। धर्मो यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मवत्॥ धर्मो रक्षति रक्षितः।

एतादृशो महिमा धर्मस्य विद्यते। धर्मोऽस्माकं जीवनशैली विद्यते। धर्मं विना अस्माकं नास्ति अस्तित्त्वम्। एतादृशस्य धर्मस्यैव संरक्षणाय धर्मविज्ञानविषयोर्निरन्तरं कार्यं कुरुते अर्थात् धर्मविज्ञानविषयो मानवधर्मं संरक्षणायैव पाठ्यक्रमे निर्धारित इति।

'ऋग्वेदः' सभ्यतायाः आदिमो ग्रन्थो विद्यते। तत्र *ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम्* निम्नविषयाः वर्णिताः सन्ति- ऋग्वेदस्य अनेके भाष्यकाराः-सन्ति-स्कन्दस्वामी, हरिस्वामी, नारायणः, उद्गीथः, माधवभट्टः, वेङ्कटमाधवः, धानुष्कयज्वा, आनन्दतीर्थः, आत्मानन्दः, सायणश्च। पाश्चात्यभाष्यकारो मैक्समूलर-वेवर-विन्टरनित्ज-मैक्डानल-कीथादयश्च। आधुनिकभाष्यकारेषु महर्षिदयानन्दः प्रमुखो विद्यते।

अनेकेषां मन्त्राणामनुशीलनेनासौ प्रतीयते यत्- महर्षयोऽलौकिकशक्तिव्यापृता आसन् तथा दैवीप्रतिभया सह तैः स्वीयालौकिकचक्षुभ्र्यामेते मन्त्राः दृष्टाः तथा एषा वेदवाणी सर्वेभ्योऽस्ति- यथोमा वाचं कल्याणीम वदानि जनेभ्यः अत्र वेदोत्पत्ति-वेदानां नित्यत्त्व-विज्ञानकाण्ड- ब्रह्मविद्या-मुक्ति-तारविद्यादिविषयाः वर्णिताः सन्ति। मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदानामवधेयमिति वेदलक्षणं बोधितम्। *ऋग्वेदे* राजधर्म-ब्रह्मचर्यादि-आश्रमधर्माश्चापि परिशीलनं समुपलभ्यते।

वेदा अपौरुषेयवाणी वरीवर्ति। ऋग्वेदो धार्मिकस्तोत्राणां विशालराशिर्विद्यते। यत्र नैकासां देवतानां भिन्न-भिन्नमहर्षयो भावाभिव्यञ्जकशब्देषु स्वाभीष्टसिद्धये स्तुतिं प्रार्थनाञ्च सम्पादितवन्तः।

उपनिषद् ज्ञानागारो विद्यते। वेदानां सारांश एवोपनिषद वर्तते। उप समीपे नि अवश्यमेव सीदति प्रापयति इति उपनिषद् वरीवर्तिः। अर्थात् या परब्रह्मणः समीपे (तत्सन्निधौ) प्रापयति (नयति) सैव उपनिषद् विद्यते। विश्वेभ्यो मानव-समाजेभ्यो नवचेतनां प्रदाय आत्यन्तिकशान्तिप्रदायकं श्रेयः। अस्माकमौपनिषदः सिद्धान्तो विद्यते। उपनिषदः साक्षात् कामधेनुसमाः सन्ति।

सकलं वेदस्य भावज्ञानाय निरुक्तज्ञानमावश्यकं विद्यते। वेदस्यैव टीका नाम निरुक्तं विद्यते। निघण्टौ वेदस्य कठिनशब्दानां समुच्चयनमस्ति। निघण्टोः संख्याविषये पर्याप्तरूपेण मतभेदो, विद्यते। अद्यत्वे समुपलब्धं निघण्टु एक एवास्ति तथा अस्योपरि महर्षिणां यास्केन लिखिता टीका *निरुक्त* इति नाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति। केचन विद्वांसो यास्केनैव निघण्टोरपि रचना कृतेति। परन्तु प्राचीनपरम्परायां एतत् प्रमाणितं न भवति। निघण्टौ पञ्चाध्याया विद्यमानाः सन्ति। आदिमम् अध्यायत्रयं नैघण्टुककाण्डमिति प्रकथ्यते। निरुक्ते काण्डत्रयं प्रसिद्धं (निघण्टु-नैगम-दैवतकाण्डं च) विद्यते। नैगमस्य सारांशो विद्यते यत्- अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् इति। दैवतकाण्डे देवानां रूपस्थानयोर्निर्देशनमस्ति। निघण्टुव्याख्याकारो देवराजः सायणप्राक् समुपलब्धे सति निरुक्तस्य महत्त्वमधिकं प्रचलति। निरुक्तस्य महत्त्वं-अर्थाऽवबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र तद् निरुक्तम् इति। अर्थबोधाय स्वतन्त्ररूपेण यद् पदसंग्रहोऽस्ति, तदेव निरुक्तं विद्यते। निरुक्ते वैदिकशब्दानां निरुक्तिः प्रतिपादिता। निरुक्तिशब्दस्यार्थो भवति यत्-व्युत्पत्तिरिति।

शुक्लयजुर्वेदस्य एकमेव गृह्यसूत्रं पारस्करगृह्यं विद्यते। अर्थात् ख्यातिलब्धमिदं पारस्करगृह्यसूत्रमस्ति। अमुस्मिन् गृह्यसूत्रे काण्डत्रयं विद्यते, तेष्वपि प्रथमकाण्डे आवसथ्याग्नेः आधानं, विवाहगर्भधारणादारभ्य अन्नप्राशनं यावत् वर्णितानि सन्ति। द्वितीये काण्डे चूडाकरण-उपनयन-समावर्तन-पञ्चमहायज्ञ-श्रावणीकर्म-सीतायज्ञादीनां विवरणं प्राप्यते। तथान्तिमे काण्डे श्राद्धानन्तर-अवकीर्णि- प्रायश्चित्तादिविविधविधीनां प्रतिपादनञ्च समुपलभ्यते। अस्य प्रसिद्धिः व्याख्यासम्पत्ति- रेवास्ति। सहैवास्य परिचायकरूपेण कार्यं कुरुते। अस्य पारस्करग्रह्यसूत्रस्य पञ्च भाष्यकाराः प्रसिद्धाः सन्ति। तेषां नामानि—(1) कर्कः (2) जयरामः (3) हरिहरः (4) गदाधरः (5) विश्वनाथश्च। गृह्यसूत्रेऽस्मिन् संस्काराणां कर्तव्यानाञ्च विशेषरूपेण वर्णनं कृतमस्ति।

वेदस्य मुख्यप्रयोजनं वैदिककर्मकाण्डस्य यज्ञयागस्य च यथार्थानुष्ठानं विद्यते। एतस्मै प्रवृत्तं यत्कारणं समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र विद्यते। वेदाङ्गसाहित्ये कल्पस्थानं नितान्तं महत्त्वपूर्णं तथा प्राथमिकं विद्यते। ब्राह्मणग्रन्थानामतीवप्रौढकारणात् समयानुसारं वेदमन्त्राणां निर्माणं सूत्रं शैल्यां सञ्जातम्। कल्पस्यार्थोऽस्ति यत्-वेदे विहितकर्मणां क्रमपूर्वकं व्यवस्थापनं कल्पशास्त्रस्य माध्यमेनैव भवति। उक्तञ्च-कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम् इति विवाहोपनयनादि कर्मणां प्रतिपादनं क्रमानुसारं सूत्रग्रन्थानां सामान्याभिधानं कल्पं विद्यते। ऋग्वेदस्य कल्पसूत्रद्वयं विद्यते- आश्वलायनं शांखायनञ्च। कल्पसूत्रं मुख्यरूपेण चतुर्विधं भवति। श्रौतसूत्रम्- यत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु वर्णितानां अग्नौ सम्पद्यमानयज्ञयागादि-अनुष्ठानानां वर्णनं विद्यते।

गृह्यसूत्रम्—यत्र गृह्याग्निस्थयागानां तथा उपनयन-विवाह-श्राद्ध-आदिसंस्काराणां च विस्तृतविवरणं संप्राप्यते।

धर्मसूत्रम्—यत्र चतुर्वर्णानां चतुराश्रमाणां कर्तव्यानां विशेषतो राज्ञः कर्तव्यानां विशिष्टप्रतिपादनं विद्यते। असावेव कल्पसूत्रे प्रधानतया परिगणितो विद्यते।

शुल्वसूत्रम्—यत्र वेदनिर्माणरीतेर्विशिष्टरूपेण प्रतिपादनं तथा प्राचीनज्यामितिसम्बन्धि-कल्पनानां गणनानां प्रतिपादकत्वात् वैज्ञानिकमहत्त्वं स्थापयति।

माण्डुक्योपनिषदि परब्रह्म-परमात्मनः सर्वस्य रूपस्य तत्त्व संस्मरणाय चतुर्णां पादानां परिकल्पनं कृतं विद्यते। नामनाम्न्यो ऐकत्वं प्रतिपादनाय प्रणवस्य (अउम्) वर्णनं प्रतिपादितम्। परमात्मना सह प्रत्येकं पादस्य समता प्रदर्शिता विद्यते। 'ओम्' एव पूर्ण ब्रह्म अविनाशी परमात्मास्ति। एतदृश्यमाना जगत् तस्य ॐकारस्यैवोपाख्यानमस्ति। प्रणवरूपात्मको देवः परमात्मा साकारो निराकार उभय रूपात्मकश्च विद्यते। जगदिदं तस्यैव एकरूपात्मिकास्ति। अस्यामुपनिषदि परा-अपराविद्ययोः संवर्णनं समुपलभ्यते। ज्योतिश्चरणाभिधानात् सूत्रेऽस्मिन् स्पष्टरूपेण प्रतिपादितं यत्- पुरुषप्रकरणे ज्योतिः वा तेजः शब्दो ब्रह्मवाचको संस्मरेत्। एवम् अमात्रः ॐकारः एव अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवः एव अद्वैतश्चतुर्थादौ विद्यते। सः आत्मा एव आत्मना आत्मानं संविशति (प्रविशति)। यः एवं वेद (जानाति), स एव वास्तविकरूपेण जानाति।

सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्मैव उपनिषदां चरमतत्त्वरूपमस्ति, परन्तु एतत्तत्वं हृदयङ्गमकरणायातीव दुरूहमस्ति। अधिकारिणं विना तत्त्वसाक्षात्कारमपि भवितुं नैव शक्नोति। यतो हि सवत्र उपनिषत्सु अधिकारी चर्चा समागत—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।[4]

श्वेताश्वतरोपनिषदि षट् अध्यायाः सन्ति। तत्र सर्वादौ एकता मन्त्रस्य चर्चा कृतास्ति। तत्र प्रश्नं कुरुते कश्चन साधकः- अस्याः जगतो मूलकारणं किमस्ति? जगदिदं कुतो जायते? तद् ब्रह्म किमस्ति? केन अधिष्ठिता वयं कुर्मः? सुखदुःखयोरस्माकं व्यवहारः किदृशो भवेत्? इत्यादिविषयाः परिगुम्फिताः सन्ति। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः इति अर्थात् यस्य गुरौ भक्ति अधिकं भवति, तस्यैव सज्जनस्य हृदये ब्रह्मज्ञानं प्रविशति।

वेदो यस्य परमतत्त्वस्य वर्णनं कुरुते, तदेव तत्त्वं श्रीमद्रामायणेऽपि मर्यादापुरुषोत्तमरामरूपे निरुपितोऽस्ति। वेदवेद्यस्य परमपुरुषोत्तमस्य दशरथनन्दनस्य श्रीरामस्य रूपे प्रकटिते सति साक्षात् वेदा एव श्रीवाल्मीकिमुखात् रामायणरूपे प्रकटिताः। एतादृशं कथनमास्तिकजनानां चिरकालं यावत् आसीत्। यतोहि श्रीमद्वाल्मीकिरामायणं वेदतुल्यं पूजनीयं विद्यते। वेदवत् रामायणस्य प्रतिष्ठास्ति सर्वत्र। आदिकाव्यं रामायणं भूतलस्य प्रथमं काव्यं विद्यते। तत् सर्वेषां पूज्यरूपेण प्रतिष्ठितं विद्यते एतद् भारतवर्षस्य कृते गौरवपूर्णं राष्ट्रिय धनं च वर्तते। अतः सर्वैः संग्रहणीयं, पठनीयं, मननीयं, श्रवणीयं च वस्तु विद्यते। प्रत्येकं अक्षरं महापातकनाशकारकं विद्यते। उक्तञ्च—'एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्' एतत् काव्यानां बीजमस्ति- काव्यवीजं सनातनम्। एतादृशमलौकिकं मोक्षप्रदं काव्यं विद्यते। अत्र सप्तकाण्डाः सन्ति। तत्र सर्वादौ बालकाण्डे सप्तसप्ततिः सर्गास्तथा अयोध्याकाण्डे एकोनविंशत्यधिकशतं सर्गाश्च सन्ति। रामायणस्य पाठमात्रेणैव चतुर्विध-पुरुषार्थाः जनैः लभ्यन्ते-ब्रह्मचारी गृहस्थी, वानप्रस्थी-संन्यासिनश्च। अयोध्याकाण्डे श्रीरामस्य गुणानां, युवाराजघोषणानां, रामस्य वनगमनस्य च वर्णनं समुपलभ्यते। अन्ते सीता-अनूयासंवादः, अनसूयया श्रीरामाय सीतायै च वस्त्रदानं, रात्रौ तत्रैव विश्रम्य, प्रातः काले अन्यत्रगमनाय ऋषिभ्यः आशीर्वादग्रहणानन्तरं काण्डः समाप्यते।

उपनिषद् सनातनदार्शनिकज्ञानस्य मूलस्त्रोतास्ति। ताः न केवलं प्रखरतम-बुद्धया एव न परिणामः, अपितु प्राचीनमहर्षीणाम् अनुभूतिफलं विद्यते। ज्ञानभक्तिकर्मसु भगवच्छरणागतिभावः उपनिषदो वास्तविकार्थो विद्यते।

श्रीमद्भागवतमहापुराणं तु विष्णुभक्तानां कृते तु धनमेव विद्यते। 'श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं यद् वैष्णवानां धनम्' पुराणेषु सर्वोत्तमं तथा विष्णुभक्तीयसज्जनानां परमधनञ्च विद्यते। श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धास्तथा 334 अध्यायाश्च सन्ति, तथा 18,000 श्लोकाः सन्ति। निगमस्य निष्कर्षभूतमिदं श्रीमद्भागवतं विद्यते, तस्य चर्चा कृतास्ति—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयम्, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।।[5]

पुराणं वर्तमानसंस्कृतेर्मूलाधारं, विविधज्ञानविज्ञानागारं, मानवसमाजोन्नतकर्तृ, प्रकाशस्तम्भं, वेदवत् समानम्, अनादिं च विद्यते। सर्वलोकेषु पुराणमुत्तमं सर्वज्ञानोपपादकं तथा सर्वश्रेष्ठं च मन्यते। पुराणेषु भारतवर्षस्य सत्यस्तथा शाश्वदात्मा समाविष्टास्ति। एतस्याध्ययनेनेदं ज्ञायते यत्- पुराणमिदम् आध्यात्मिक- आधिदैविक- आधिभौतिकानाञ्च संगमस्वरूपात्मकं विद्यते। विज्ञानक्षेत्रेऽधुना याः नूतनाः विद्याः प्रचलिताः सन्ति, तासां विद्यानामन्वेषणं क्रियते चेत् प्रायशो मूलं तासां पुराणेषु समुपलभ्यन्ते। *विष्णुधर्मोत्तरपुराणे* खण्डत्रयं राजते। प्रथमखण्डे वराहेण भूम्युद्धारवर्णनम्, भूरादिसप्तलोकानां निवासिनाञ्च वर्णनम्, पाञ्चालादि- जनपदवर्णनम्, श्रीशङ्करगीतायाश्च वर्णनम् प्रतिपादितम्। द्वितीयखण्डे रामस्य पुष्करगृहगमनम्, पुरोहितलक्षणानि, राजमन्त्रिलक्षणानि, भद्रासनलक्षणम्, चापशरलक्षणानि च प्रतिपादितानि सन्ति। तृतीयखण्डे विशेषरूपेण प्रतिमास्वरूपवर्णनम्, गायत्र्युष्णिगादिच्छन्दोवर्णनम्, प्राकृतभाषालक्षणम्, राजादिपुंशब्दनिर्देशनम्, ब्रह्मविष्णुशङ्करचित्रनिर्माणवर्णनञ्च समुपदिष्टम्।

पुराणसाहित्यं भारतीयसंस्कृतेः आधारस्तम्भं विद्यते। यत्र सांस्कृतिकमूल्यानां मान्यतानाञ्च नीतिबद्ध- आस्थानां मानकानाञ्च समुल्लेखनं कृतं विद्यते। पुराणेषु विष्णोरवताराणां विशदवर्णनं प्राप्यते। लीयते यत्र पापं तद् लिङ्गम्। पुरा अपि प्रतिदिनं नवं नवं भवति पुराणम्। लिङ्गस्य पुराणं लिङ्गपुराणम् वर्तते। अर्थात् पुराणमिदं श्रुत्वा शरीरस्थानि पापानि दूरं पलायन्ते। सर्वं गात्रं पापरहितञ्च भवति। पुराणानि श्रुत्वा गात्रं पापरहितञ्च भवति। पुराणानां संख्या अष्टादशो विद्यते। तेषु लिङ्गपुराणस्य स्थानमेकादशतमे वर्तते। अस्य भागद्वयमस्ति-पूर्वश्च उत्तरश्च। पूर्व स्मिन् भागे 108 अध्यायास्तथा उत्तरे 55 अध्यायाश्च विराजन्ते। अनया रीत्या भागद्वयं संमिल्य 163 अध्यायाः एकादश सहस्राणि श्लोकाश्च विराजन्ते। अस्य रचयिता वेदव्यास एव विद्यते। अस्मिन् महापुराणे सृष्टेः समुत्पत्ति-प्रलय-पुनः सृष्टि- कल्प-मनु- मन्वन्तर-चतुर्युग-राजवंशानां (सूर्यवंशचन्द्रवंश- यदुवंशादीनां) वर्णनं प्राप्यते। भूमिस्थानां सप्तद्वीपानां पर्वतानां सागराणां नदीनां-निवासिनीनां च वर्णनं विद्यते। आकाशस्थनक्षत्राणां, ग्रहाणां, तेषां स्थितीनां गतीनाञ्च वर्णनं सर्वत्र दृश्यते। सहैव तत्र ब्रह्मणः सकाशात् ऋषिदेवादीनां सृष्टिवर्णनं, अघोरोत्पत्तिवर्णनम्, लिङ्गार्चन विधिवर्णनं, परमात्मनः शिवात्सर्वेषां विस्तरेणादि- सर्गनिरूपणञ्च कृतमस्ति।

महाभारतम् आर्यसंस्कृतेस्तथा भारतीयसनातनधर्मस्य च एको महान् ग्रन्थस्तथा अमूल्यरत्ना- नामपारभण्डारमपि विद्यते। वेदव्यासो मुखात् स्वयमेव कथयति यत्- अस्मिन् महाभारते मया वेदानां रहस्यं, विस्तृतिकरणं, उपनिषदां सारः, इतिहासपुराणयोः उन्मेषनिमेषयोः, चातुर्वण्र्यविधानं, पुराणानाम् आशयः, ग्रहनक्षत्रतारादीनां परिमाणः, न्याय-शिक्षा-चिकित्सा-दान- पाशुपत-तीर्थ-पुण्यदेश-नदी-पर्वत-वन- समुद्राणाञ्च वर्णनं प्राप्यते। अत एव महाभारतमादिकाव्यं विद्यते। गूढार्थमयं ज्ञानविज्ञानसम्पन्नं शास्त्रं विद्यते।

धर्मग्रन्थेन सह राजनीतिकदर्शनं, कर्मयोगदर्शनं, भक्तिशास्त्रं, अध्यात्मशास्त्रं, सर्वार्थसाधकं, सर्वशास्त्रसंग्रहश्चापि विद्यते। अत्र एकस्य अद्वितीयस्य, सर्वज्ञस्य, सर्वशक्तिमतः, सर्वलोकमहेश्वरस्य, परमयोगेश्वरस्य, अचिन्त्यानन्तगुणगणसम्पन्नस्य, सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणः, विचित्रलीलाविहारिणः, भक्तभक्तिमतः, भक्तसर्वस्वस्य, निखिलरसामृतसिन्धोः, अनन्तप्रेमाधारस्य, प्रेमधनविग्रहस्य, सच्चिदानन्दनन्दघनस्य, वासुदेवस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य गुणगौरवस्य च मधुरगीतं व्याप्तं विद्यते। अस्य परमात्मनो महिमा अपारो वर्तते। औपनिषद-ऋषिणापि महाभारते पञ्चमवेदरूपेण प्रतिपादितस्य महाभारतस्य सर्वोपरि महत्ता स्वीकृता। आदिपर्वणि अष्टादश पर्वाणि सन्ति। आदिपर्वणः समारभ्य पञ्चाशत् अध्यायं यावत् चत्वारि पर्वाणि सन्ति। अनुक्रमणिका पर्वति विषयसूची लभ्यते। पर्वसंग्रहपर्वणि समन्तपञ्चकक्षेत्रवर्णनं, अक्षौहिणीसेना प्रमाणं, महाभारते पर्वाणि संक्षिप्तविषयसूची, श्रवण-पठनफलं लभ्यते। सम्भवपर्वणि राज्ञो दुष्यन्तस्य चरित्रं समुपलभ्यते। सम्पूर्णेऽपि आदिपर्वणि 233 अध्यायाः सन्ति।

पुराणं भारतीयसंस्कृतेरमूल्यनिधिरस्ति। पुराणानि अस्माकं राष्ट्रीयजीवनमधिकं प्रभावितं कृववन्ती। भारतीयवाङ्मयं तैश्चानुप्राणितं विद्यते। पुराणानां सर्वाधिकी विशेषता एषास्ति यत्- व्यक्ताव्यक्तयोर्मध्ये सम्बन्धस्थापनम्। मानवानां समुन्नतये एतादृशीनां कथानां प्रस्तूयते। पुराणकथाः मानवकल्पनाशक्तिविकासस्य कथाः सन्ति, याभिः अपरिमेयसत्यं परिगण्यते। महाभागवते देवी स्पष्टरूपेण कथयति यत्—

आगमश्चैव वेदश्च द्वौ बाहू मम शङ्कर।
ताभ्यामेव धृतं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।।[6]

पुराणवाङ्मये श्रीमद्देवीभागवतमहापुराणस्य महिमा अतीव विद्यते। सर्वलक्षणसम्पन्नं देवीभागवतं पञ्चमं पुराणं विद्यते। शक्तिसमुपासकः साधकः एतद् पुराणं शाक्तभागवतमिति नाम्ना सम्बोध्यते। 'मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव' मन्त्रमिमं समाश्रित्य अहर्निशं शाक्तोपासनां कुरुते। यतोः सर्वत्र शक्तेरेव प्रधानता विद्यते। यतो प्रकारान्तरेण कथयितुं शक्यते यत्—सम्पूर्णा जगद् महाशक्तेरेव विलासोस्ति। *देवीभागवते* द्वादशस्कन्धाः सन्ति। एकादशस्कन्धे चतुर्विंशतिरध्यायाः द्वादशस्कन्धे विंशतिरध्यायाश्च सन्ति। उभयमाहत्य चतुश्चत्वारिंशत् अध्यायाः सन्ति। तत्र रुद्राक्षोत्पत्ति- भष्मधारणविधि-भगवतीपूजाविधि-गायत्रीपुरश्चरणविधि-गायत्री- जपमाहात्म्यमणिद्वीपवर्णन- सप्तश्लोकीदुर्गामहिम्नश्च वर्णनं विराजते। अन्ते देव्यापराधक्षमापनस्तोत्रेण सम्पन्नो भवति।

विश्वधर्मान्तर्गताः (हिन्दू-जैन-बौद्ध-सिक्ख-पारसी-यहूदी-ख्रिस्तीय-इस्लाम-धर्माः) समुपनिबद्धाः सन्ति। धर्म आध्यात्मिकपरिवर्तनस्वरूपात्मको वर्तते।

अन्तर्मुखीरूपान्तरणमेवैकं जागरणरूपात्मकश्चास्ति। सर्वे धर्मतत्त्वज्ञाः 'मानव एव सर्वश्रेष्ठ' इति मन्वते- न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चिदिति अस्माकं पुनः पुनरपि स्मारितं यत्-नरजन्म दुर्लभमिति। एतादृशी एव मान्यता पाश्चात्यसुधीनामस्ति।-

'Man is the measurement of all things.' एषो निरपेक्षः परमसत्यमस्ति तथा निरपेक्षः "शिवम्" इति स्वरूपात्मकं विद्यते। ईश्वरीयसत्तां यावत् गमनाय तथा रहस्यज्ञानाय अनेके पन्थानः सन्ति, परन्तु सर्वेषां लक्ष्यमेकम्- परसत्तया सह साक्षात्कारः। नामरूपमार्गभिन्नत्वे सत्यपि अन्तिमं लक्ष्यं तदेवास्ति। परब्रह्म परमात्मा सर्वेभ्यो धार्मिकसिद्धान्तेभ्यः पारं तथा सर्वे तस्यैवान्वेषणं कुर्वन्ति। ईश्वरो विभिन्नेषु युगेषु धर्मान् धर्मगुरून, पैगम्बरान् च भूतले प्रेषितवन्तः।

धार्मिकेतिहासस्य विडम्बनास्ति यत्- यदा धर्मसम्प्रदायाः सकीर्णपरिधौ बध्नन्ति, तदा ईश्वरीयबोधो नश्यते। अधुना अस्माकं समक्षं बाधात्रयं विद्यमानम्- वर्तमान भौतिकवादी- मूल्यहीन- नैतिकताविहीनापसंस्कृतिस्तथा राष्ट्राणां पारस्परिकस्पर्धा सामाजिकचेतना, समुपहतमानवं धर्मस्य वास्तविकतां च प्रति संदेह एवं साम्प्रदायिकसंकीर्णतत्वात् स्वधर्मं अपरधर्मेभ्यः श्रेष्ठस्मरणम् च। एतस्यैव सन्दर्भे अस्याभिः तासां भारतीयमान्यतानां समुल्लेखनं क्रियते। ताः निम्नोक्ताः सन्ति-

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्मेति मीमांसकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्तेति नैयायिकाः,
सोऽयं विधातुवाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।[7]
आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।।[8]

जैनमतानुसारम्—

भवबीजाङ्कुरजनानां रागादयाः क्षयमुद्गता यस्मिन्।
ब्रह्मा व विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।[9]

बुद्धेन अप्प दीपो भव कथितस्तु जैनेन 'अप्पा सो परमप्पा'। कर्मसिद्धान्तो हिन्दु-बौद्ध-जैनधर्मैश्च सह सिक्खधर्मेऽपि मान्योऽस्ति। ईसामसीहस्य शैल्युपदेशस्तथा राजयोग-यम- नियमाः बौद्धस्य आर्यसत्य- अष्टांगिकमार्गैश्च सह परस्परं समानता दृश्यते। सम्पूर्णेषु धर्मेषु दिव्यप्रायाः सारतत्त्वं विद्यमानमस्ति।

अहूरमजदा, ईश्वरः, अल्लाहः, जेहोवा, तस्यैव परमसत्तायाः विभिन्ननामानि सन्ति। प्रत्येकं धर्माः आत्मसाक्षात्कारेण सह ब्रह्मानुभूति-सदाचरण-अहिंसा-सत्य-अपरिग्रह-दान-दया-परोपकारादीनां समुपदेशं प्रददति। करुणा-इन्द्रिय-निग्रह- संयम-सत्संग-सर्वभूतहित-प्रेमाणि निर्दिशन्ति धर्माः। शत्रुणापि सह प्रेम कुरु इति ईसामसीहेनोक्तम्। बुद्धेन यहूदीनापि एतदेव प्रकथितं शत्रुः मित्ररूपेण स्वीक्रियताम्, तदेव महान् भवति। व्यासेन तु साररूपेण कथितं यत्- परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् इति।

निगमागममूला संस्कृतिः मानवं मातेव रक्षति पितेव सर्वदा हितं नियुङ्क्ते। यज्ञयागादीनामाचरणं तथा त्रयीमार्गोपासना द्विजातीनां स्वीकृतमस्ति। वेदाध्ययनस्याधिकारो यज्ञसमपादनाय सर्वमान्यो विद्यते द्विजाः। परन्तु गुप्तान्तरङ्गसाधनापि काचन भवति। सा साधना योग्याधिकारिणे प्रदीयते गुरुभिः। एतयोः साधनयोः प्रथमा साधना निगमो वेदोऽस्ति तथा अपरा साधना आगमः (तन्त्रः) विद्यते। भारतीयसंस्कृति उभयाश्रिता विद्यते। अर्थात् वेदेन सह तन्त्रस्यापि मान्यता समाजे दृश्यते। अस्मिन् *शारदातिलकमित्यस्मिन्* ग्रन्थे पञ्चविंशति पटलाः सन्ति। अत्र शिवशक्त्योरविनाभाव-शब्दब्रह्म-शब्दस्य व्युत्पत्ति-श्रीगुरुस्तुति-गुरुस्वरूप-देवतानां सूक्ष्मस्वरूप-पश्यन्तीशब्दसृष्टिनिरूपणादिविषयाश्च व्याप्ताः (उपनिबद्धाः) सन्ति। तत्र द्वादशपटले भैरवीनिरूपणम्, त्रिपुरभैरवीमन्त्रः, त्रिपुराशब्दव्युत्पत्तिः, आगमशब्दव्युत्पत्तिः, तिलकक्रिया, त्रिपुरभैरवीयन्त्रम्, त्रिपुरभैरवीगायत्री, त्रिपुरभैरवीस्तवः, राजमातङ्गिनीमन्त्राश्च वर्णिता सन्ति। चतुर्थपटले विशेषरूपेण दीक्षावर्णनं सर्वत्र दृश्यते।। दीक्षायाः आवश्यकता न वा? दीक्षाशब्दस्य का व्युत्पत्तिः? इत्यादीविषयाश्चापि निगुम्फिताः सन्ति। गरुडादि-विभिन्नमुद्राणां परिचयोऽपि दृश्यते। विशेषरूपेण द्वितीयपटले गुरुशिष्ययोर्लक्षणं सहैव वर्णस्वराणाञ्च प्रतिपादनमपि सम्यक्तया समुपनिबद्धमस्ति। पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। इति कथनं सार्थकीकुर्वन्ति पुराणानि समाजे प्रचलितानि सन्ति निरन्तरम्।

सन्दर्भाः

1. *ऋग्वेदः* 10/190/1
2. *अध्यात्मरामायणम्* 5/51.
3. *महाभारतम् शान्तिपर्व*, 264/26
4. *श्वेताश्वतरोपनिषदि*
5. *भागवतपुराणम्* 1/1/3
6. *भागवतपुराणे*
7. *सूक्तिसुधाकरः*
8. *सूक्तिसुधाकरः*
9. *जिनेन्द्र अर्चना*।

धर्मागमविभाग, संस्कृत-विद्या-धर्मविज्ञान-
संकायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः,
वाराणसी-221005
चलवाणी- 9452823899

अहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमम्

विश्वावसुगौड
प्रो. वैद्य बनवारीलाल गौड

सारांश (Abstract)

चरक संहिता में एक प्रसङ्ग आया है जिसमें मनु के पुत्र पृषध्र ने एक यज्ञ किया और उस यज्ञ में गोधन की बलि दी तथा उस मांस का भक्षण जिन जिन लोगों ने किया उन सभी में अतिसार नामक रोग की उत्पत्ति हुई। यज्ञ में गोधन की बलि देने के कारण प्राणी व्यथित हुए अतः मानसिक आघात और शोक (व्यथा) के कारण तथा गोमांस का भक्षण करने से जाठराग्नि की विकृति होकर इस अतिसार रोग की उत्पत्ति हुई। अतः अतिसार की उत्पत्ति में शोक और गोमांसभक्षण को प्रमुख हेतु माना गया। इस प्रसङ्ग से एक बात स्पष्ट होती है कि उस समय यज्ञ में कुछ लोग पशुबलि देने का विधान मानते थे जब कि कुछ लोग इसके विरोध में भी थे। महर्षि चरक ने इसे उपयुक्त नहीं माना तथा अहिंसा को सर्वोत्कृष्ट बता कर उसे धर्ममूलक बताया। इसके साथ ही एक संदेश यह भी दिया कि गोमांस का भक्षण नहीं करना चाहिए। गोमांस अग्निमांद्य एवं उदररोगों की उत्पत्ति का कारण है, विशेष रूप से अतिसार उत्पन्न करने वाला होता है। *चरकसंहिता* चिकित्साप्रधान ग्रन्थ है अतः मांसाहार करने वाले व्यक्तियों के स्वास्थ्यसंरक्षण क्रम में किए जाने वाले आहार में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के मांसों के गुण बताए हैं तथा अनेक रोगों में मांसरस का प्रयोग करने का विधान भी बताया है लेकिन साथ ही इसे हिंसामूलक मानकर पापकारक भी माना है। व्याख्याकार चक्रपाणि ने यह स्पष्ट भी किया है कि यह है धर्मग्रन्थ नहीं है इसका प्रमुख उद्देश्य धातुओं का साम्य करके स्वास्थ्य का संरक्षण करना है। अतः जो लोग मांस का प्रयोग करते हैं उनके लिए मांस का विभिन्न प्रकार से प्रयोग निर्दिष्ट किया है लेकिन मांस प्राप्त करने के लिए हिंसा करना पापहै यह भी कहा है। अतः यथासम्भव उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। आचार्य ने अहिंसा को श्रेष्ठ बताया है तथा विशेष रूप से गोमांस का निषेध संकेतित किया है।

महत्त्वपूर्ण शब्द (Key words)

प्राणैषणा, सद्वृत्त, आलम्भाय, समालभनीय, अभ्यनुज्ञानात्, प्रोक्षणम्, उपाकृतानाम्, वशी, यूप, देवसव, पृथिसव, मनुष्यसव, पशुबन्ध यज्ञ, धातुसाम्यक्रिया।

प्राणैषणा के दृष्टिकोण से आयुर्वेद में स्वास्थ्य के संरक्षण एवं विकार के प्रशमन के उपायों को बताने के साथ-साथ परलोकैषणा को चरम लक्ष्य मानने वाले आचार्य ने प्रतिदिन की सामान्य दिनचर्या में भी सद्वृत्त को महत्त्वपूर्ण माना है। आचार्य चरक का यह मानना है कि सर्वश्रेष्ठ आचरण करते हुए जीवनयापन करना चाहिए। इसमें अनेक प्रकार के उपदेश आचार्य चरक ने दिए हैं जिनमें सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रक्रियाओं का समावेश कर दिया है। यथा—

तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति; तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! तद्यथा- देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, अग्निमुपचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ कालावुपस्पृशेत्, (*च. सू.* 8)

ये उपदेश अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं, इनमें श्रुतियों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों आदि के विभिन्न विषयों को संक्षेप में सभी को समाहित कर लिया गया प्रतीत होता है। चरकसंहिता के सूत्रस्थान के आठवें अध्याय में ये संक्षिप्त उपदेश दिए गए हैं। अन्यत्र भी जहाँ-जहाँ आचार्य ने अपेक्षित समझा वहाँ-वहाँ अन्य उपदेश भी दिए हैं। जिनका निष्कर्ष यह है कि सर्वदा धर्मपरक कार्य करते हुए व्यक्ति को जीवनयापन करना चाहिए। इन उपदेशों में कहीं-कहीं विरोधाभास भी दिखाई देता है, क्योंकि चरकसंहिता श्रुति-स्मृतिपरक धार्मिक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जीवन का विज्ञान है, जिसमें चिकित्सा का प्राधान्य होने के कारण यह कहा जा सकता है कि यह एक चिकित्सा का ग्रन्थ है। यद्यपि इस चिकित्सा का उद्देश्य भी यही है कि व्यक्ति पूर्णतया स्वस्थ होकर जप, तप, होम, प्रायश्चित्त इत्यादि के माध्यम से परलोकैषणा के लिए प्रयत्न करे।

इन उपदेशों में तथा *चरकसंहिता* में विभिन्न स्थानों पर दिए गए चिकित्सापरक व्यावहारिक निर्देशों में कहीं-कहीं विरोधाभास भी दिखाई देता है। ऐसा ही एक विरोधाभासपरक सन्दर्भ अहिंसा का भी है, यहाँ इस सद्वृत्त केप्रसङ्ग में आचार्य चरक उपदेश देते हैं कि—"ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति।" (*च. सूत्र* 8 /29) यहाँ आचार्य ने कहा है कि व्यक्ति को मैत्रीपरक और कारुण्यपरक होना चाहिए। जबकि अनेक स्थानों पर आहार के प्रसङ्ग में अथवा चिकित्सा के प्रसङ्ग में मांस के सेवन का निर्देश भी किया है। इसके लिए मांस की प्राप्ति करने में हिंसा होती है और जहाँ हिंसा होती है वहाँ मैत्री और कारुण्य होना सम्भव नहीं है, इसकी व्याख्याकार चक्रपाणि ने अत्यन्त ही विस्तृत व्याख्या की है, यथा—

मैत्री सर्वभूतेष्वात्मनीवाप्रतिकूला प्रवृत्तिः। ननु मैत्रीपरः स्यादिति विरुद्धमेतत्, येन शास्त्रकार एवायं दिग्धविद्धस्वयम्मृतादिमांसपरित्यागेन वयस्थत्वादिगुणयुक्तानां मृगादीनां सद्यस्कं मांसं सेव्यत्वेनोपदिशन् साक्षान्मैत्रीविरुद्धां हिंसामेवाह; नैवं, रागत एव प्राणिनां हिंसापूर्वकमांसभक्षणे प्राप्तेऽयमायुर्वेदोपदेष्टा मांसस्य क्वचिद्रोगे कस्यचिद्धितत्वं क्वचिच्चाहितत्त्वमुपदिशति, नतु मांसभक्षणं हिंसां वा विदधाति; न ह्ययं मदिराया अपि स्वस्थवृत्ते रोगिवृत्ते वा हितत्त्वमुपदिशन् मदिरापानं प्रत्युपदेष्टा भवति; एवं च रोगाधिकारे राजयक्ष्मादौ मांसोपदेशस्तथा शरदृतुचर्यादौ "लावान् कपिञ्जलानेणान्" (सू.अ.6) इत्यादिग्रन्थो लावादिमांसहितत्वोपदेशार्थो न

हिंसाविधायकः; तेन रोगिणः स्वस्थाश्च हिंसाफलभाजो भवन्त्येव; यथा- "श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्यत्राभिचारस्य कामत एव प्राप्तत्वाच्छ्येनस्याभिचारसाधनत्वमात्रमेव विधिर्ब्रूते, तेन श्येनेनाभिचारकरणेऽधर्मो भवत्येव; अयं त्वत्र विशेषः- यदि हिंसोपार्जितमांसोपयोगं विना पुरुषो न जीवति, अतो हिंसां करोति, तदा "सर्वत्रात्मानं गोपायीत" इति वेदवचनविहितत्वात्तथाविधहिंसा न प्रत्यवायहेतुः, जीवनोपायान्तरसम्भवे तु पुष्ट्यादिप्रयोजना हिंसा प्रत्यवायहेतुरेव; किञ्च भवतु वाऽऽयुर्वेदविहिता हिंसा, तथाऽपि हिंसा दोषार्थमुच्यते; न ह्यायुर्वेदविधयो धर्मसाधनमेवोपदिशन्ति, किं तर्ह्यारोग्यसाधनं "धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्" (सू.अ.1) इत्युक्तेः।।29।।

यहाँ व्याख्याकार ने विस्तार से जो कुछ कहा है उसका निष्कर्ष केवल यही है कि रागपूर्वक मांस का भक्षण करना हिंसा है और किसी रोगविशेष में हितकारी होने से मांस का भक्षण करना विवशता होते हुए भी वह हिंसा ही है और हिंसा तो अधर्मपरक ही होती है। यह आयुर्वेदविहित हिंसा होते हुए भी दोषार्थ तो है ही, लेकिन यहाँ व्याख्याकार कहते हैं कि आयुर्वेद की विधि में धर्मसाधन प्राथमिक रूप से उपदेश का विषय नहीं है यहाँ तो आरोग्य का साधन ही प्राथमिक ध्येय है। अतः यहाँ मांसाहारियों के लिए मांस के भक्षण का निर्देश करना या चिकित्सा के लिए मांसभक्षणका निर्देश करना आयुर्वेद की विधा के अन्तर्गत होने से उपदेश करने योग्य है। यद्यपि पारमार्थिक रूप से यह भी हिंसा ही है और हिंसा का परिणाम उस व्यक्ति को भोगना ही पड़ता है। इसीलिए अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त या अन्य धर्मद्वारों का उपदेश आचार्य ने किया है, जिनका परिपालन करते हुए व्यक्ति पारमार्थिक रूप से मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। क्योंकि किए हुए कर्मों का फल तो शुभ हो या अशुभ हो भोगना ही पड़ता है, इसके लिए महर्षि चरक कहते हैं कि—"वशी तत्कुरुते कर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते" (च.शा.1)। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* अध्याय 37 में भी इसी प्रकार का उपदेश दिया गया है, यथा—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।। (*ब्रह्मवैवर्त्तपुराण*, अध्याय 37)

अर्थात् किया हुआ जो भी शुभ-अशुभ कर्म है, वह अवश्य ही भोगना पड़ता है। कर्म का भोग किए विना तो सैंकड़ों कल्पों के गुजरने पर भी उसका क्षय नहीं होता।

लेकिन जब मोक्षार्थ प्रवृत्ति होती है तो शुभाशुभ कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता। आचार्य चरक आगे कहते हैं कि—

वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति।। (*च. शा.* 1/78)

अर्थात् जब यह वशी (आत्मा) चित्त का (मन का) समाधान कर लेता है (अपने आप में समाहित कर लेता है) तो वशी सब कुछ त्याग देता है। इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि—

वशी सन्नयं मोक्षार्थं प्रवृत्तः सर्वारम्भं शुभाशुभफलं त्यजतीत्यर्थः। इह स्वतन्त्रः परात्मना ईश्वरादिना प्रेरितप्रवृत्तिरुच्यते; वशी तु स्वयमपि प्रवर्तमान इच्छावशात् प्रवर्तते, न प्रेरितप्रवृत्तिरूपत्वेनेप्सितेऽनीप्सिते च वर्तते इति स्वातन्त्र्यवशित्वयोर्भेदः।। (*चक्रपाणि*)

अतः जब मन आत्मा में समाधिस्थ होता है तो निर्विकार भाव से कर्म में प्रवृत्ति होती है, उसका शुभाशुभ फल नहीं भोगना पड़ता वह मोक्ष के लिए ही होने वाली प्रवृत्ति है।

मन के समाधिस्थ होने के पहले सामान्य स्थिति में यह विचार करना अपेक्षित है कि शुभ कर्म की दृष्टि से जप, तप, होम, यज्ञ इत्यादि किए जाने चाहिए, लेकिन यज्ञ करने में कहीं-कहीं पशुबलि का भी विधान है, अतः पशुबलि दी जाने पर धर्म होगा या अधर्म, इस पर विद्वानों में मतभेद रहा है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं जिनमें एक पशुबन्ध यज्ञ भी है इसमें पशुबलि दी जाए या पशु की पूजा करके छोड़ दिया जाए यह है विश्लेषण के योग्य है।

पशुबन्ध यज्ञ के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार के विचार प्रकट किए हैं, जिनमें दोनों ही प्रकार के भाव हैं कि यज्ञ में पशुबलि दी जानी चाहिए या नहीं दी जानी चाहिए। यह बहुत अधिक विवादपरकविगृह्यसम्भाषा या सन्धायसम्भाषा का विषय है। इस विषय में आयुर्वेदीय दृष्टि से विचार किया जाए तो एक ही बात सङ्क्षेप में कही जा सकती है कि अहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट है, अतः पशुबलि नहीं दी जानी चाहिए। अहिंसा को श्रेष्ठ मानने वाले महर्षि चरक कहते हैं कि—

तत्राहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमं, (च.सूत्रस्थान. 30/15)

इसकी व्याख्या करते हुए चक्रपाणि स्पष्ट रूप से हिंसा को अनुपयुक्त मानते हैं। वे कहते हैं कि अहिंसा धर्म उत्पन्न करने वाली होती है, यथा-यद्यप्यन्नं प्राणवर्धनं तथाऽप्यहिंसैवोत्कृष्टा, अहिंसया हि धर्मजननात्तत्कृतमविचाल्यं भवति।(चक्रपाणि)

अहिंसा के इस प्रसङ्ग में यज्ञ एवं बलि के सम्बन्धमें भी विचार किया जाना अपेक्षित है, क्योंकि आचार्य ने अनेक स्थलों पर स्वास्थ्यप्राप्ति के सन्दर्भ में एवं धर्मपरक प्रक्रियाओं को करने के सम्बन्धमें यज्ञ और बलि का उपदेश दिया है। वेदों में इन दोनों का ही पर्याप्त उल्लेख है जिसका व्याख्याकारों ने अनेक प्रकार से विश्लेषणपरक अर्थ प्रस्तुत किया है। जिसमें दो तरह के भाव प्रकट होते हैं कुछ विद्वानों का मानना है कि पशुबलि दी जानी चाहिए जबकि कुछ विद्वानों का मानना है कि पशुबलि नहीं दी जानी चाहिए।

यदि हम वैदिक काल से लेकर अब तक के व्यावहारिक स्वरूप को देखें तो पहले मांसाहार का पर्याप्त प्रयोग किया जाना स्पष्टतःपरिलक्षित होता है। इस क्रम में आगे चलकर मांसाहार में भी अजा, मेष, महिष आदि पशुओं का एवं कुछ विशिष्ट पक्षियों के मांसभक्षण का प्रयोग सीमित होने लगा। यज्ञ में भी बलि के स्वरूप में व्यावहारिक रूप से मांस का प्रयोग हुआ है, लेकिन बाद में पशुवध के प्रति घृणा एवं कारुण्य के

भाव के अभिवर्धन के कारण मांसाहार के निषेध के प्रति धारणा की अभिवृद्धि हुई ऐसा प्रतीत होता है। बाद में यज्ञकर्ताओं ने भी पशुबलि की अपेक्षा पुरोडास को ही अधिक महत्त्व दिया है (यज्ञ में जो आहुति दी जाती है उसे हविःकहते हैं।पुरोडास भी हविः ही है। जो पिसे हुए चावल की बनी हुई हविः होती है उसे पुरोडास कहते हैं)। आचार्य चरक ने अतिसार के प्रसङ्ग में मांस के भक्षण को एवं यज्ञ में दी जाने वाली पशुबलि को अनुपयुक्त माना है तथा तन्मूलक मांसभक्षण से अतिसार की उत्पत्ति मानी है। वहाँ उन्होंने अपना विशेष मंतव्य भी प्रकट किया है, जिसमें वे यह कहना चाहते हैं कि पशुओं की बलि नहीं दी जाकर यज्ञ में उनकी पूजा करके उन्हें छोड़ दिया जाना चाहिए यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि— **"अहिंसा प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमम्"** कहने वाले आयुर्वेद के आचार्य पशुबलि के समर्थक नहीं हैं। इस विषय में अतिसार का प्रसङ्ग अवलोकनीय है। अतिसार की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में आचार्य कहते हैं कि यज्ञ में गोधन की बलि दी जाकर उसके मांस का सेवन करने पर अतिसार की उत्पत्ति हुई, अतः गोधन की बलि दिया जाना शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की विकृतियों को उत्पन्न करने वाला होता है, अतः यह उपयुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक के ये वाक्य उद्धृत करने योग्य हैं जिनमें समालभनीयपद के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है, यथा—

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच– श्रूयतामग्निवेश! सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम्।
आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।
ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः।
अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद्गवामालम्भः प्रवर्तितः।
तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।। (चरक. सूत्र.19/4)।।

यहाँ महर्षि चरक ने स्पष्ट कहा है कि यज्ञ में पशु समालभनीय हैं अर्थात् संस्कार करने योग्य होते हैं उन्हें मारने के लिए नहीं लाया जाता। किंतु पृषध्र ने यज्ञ करते समय यह पाप किया और पशुवध करके उसकी बलि दी और उसी मांस का भक्षण किया, इसलिए अतिसार की उत्पत्ति हुई। इसी प्रसङ्ग को चक्रपाणि ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

आदिकाले इति कृतयुगे। समालभनीया इति मन्त्रेण अभिमन्त्र्यैव परित्याज्या बभूवुः; न आलम्भार्थं प्रक्रियन्ते स्म इति आलम्भाय मारणाय न प्रक्रियन्ते स्म न संस्क्रियन्ते स्म इत्यर्थः। नरिष्यन्नाभागादिमनुपुत्रेष्वेकमेव मनुपुत्रमुदाहार्य यद्यादिशब्दः क्रियते तदा तेषां क्वचिदन्यत्र समुदायेन पाठात् बुद्धिभ्रमः स्यात्, तेन साक्षाज्ज्ञानार्थं कतिपये पठिताः; अपठिताश्चादिशब्देन प्रकारवाचिना इतिहासज्ञानार्थं

पुराणेषून्नेयाः। पशूनामभ्यनुज्ञानादिति पशूनामेव प्रेरणया; प्रेरणा चैषां विशिष्टापूर्वोत्पादार्थमेवोच्यते आगमेषु– 'क्रत्वर्थहिंसायां वधकवध्ययोरुभयोरपि महत्पुण्यमुत्पद्यते' इति; किंवा पशूनामेवाभ्यनुज्ञानादिति वेदे पशूनां वध्यत्वेनाभ्यनुज्ञानात्। प्रोक्षणमिति विधिपूर्वकं मारणम्। पृषध्रः राजविशेषः। दीर्घसत्रेणेति दीर्घकालनिर्वर्त्येन। व्यथिता इति अदृष्टपूर्वं गवां वधं दृष्ट्वा दुःखिताः सन्तः। उपाकृतानामिति अभिमन्त्र्य हतानाम्। उक्तं हि– "उपाकृतः पशुरसौ योऽभिमन्त्र्य क्रतौ हतः" इति। अनेन च प्रागुत्पत्तिनिदर्शनेन मानसोपघातो गुर्वादिसेवा चातीसारकारणं भवतीत्युपदर्श्यते।।(चरक. सूत्र. 19/4 पर चक्रपाणि)

इस प्रकरण का यहाँ पर शब्दार्थ न करके केवल भावार्थ प्रस्तुत कर देना मात्र ही पर्याप्त है—

आदिकाल में अर्थात् कृतयुग में मन्त्र से अभिमन्त्रित करने के बाद ही पशु परित्याज्य (समालभनीय) हो जाते थे अर्थात् छोड़ने योग्य हो जाते थे। यज्ञ में पशु मारने के लिए प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत नहीं किए जाते थे अर्थात् मारने के लिए उनका संस्कार नहीं किया जाता था। चरकसंहिता के उपर्युक्त मूलसूत्र में केवल पृषध्र का नाम ही उल्लिखित किया जाना चाहिए था क्योंकि उसी ने यज्ञ में पशुबलि दी थी, लेकिन महर्षि चरक ने मनु के एक से अधिक पुत्रों का नामोल्लेख ऊपर किया है। इसकी व्याख्या करते हुए व्याख्याकार चक्रपाणि स्पष्टीकरण देते हैं कि—

यदि यहाँ नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, नृग,शर्यातिआदि मनु के पुत्रों में से एक ही मनु के पुत्र का उदाहरण देकर आदि शब्द का प्रयोग किया जाता तब अन्य स्थानों पर मनु के पुत्रों का भी समुदाय से उल्लेख होने के कारण बुद्धिभ्रम हो जाता है, अतः उन्होंने सीधे ही उन पुत्रों का परिचय देने की दृष्टि से कुछ नामों का उल्लेख किया है और जिन नामों का उल्लेख नहीं किया है उनका प्रकारवाची आदि शब्द से इतिहास के ज्ञान के लिए पुराणों में विचार किया जाना चाहिए।

"पशूनामभ्यनुज्ञानात्" को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि—पशुओं की ही प्रेरणा से या उनकी सहमति से उनका वध किया जाता था और प्रेरणा या सहमति यह थी कि आगमों में (शास्त्रों में) उनके वध का आदेश दिया जाता है, वह इसलिए दिया जाता है कि इनकी विशिष्ट अपूर्व उत्पत्ति होगी अर्थात् इनको पुण्य प्राप्त होगा, जिसके कारण या तो ये आगे श्रेष्ठ योनि में जन्म लेंगे या मोक्ष को प्राप्त करेंगे। लेकिन इस तरह का यह अर्थ करना उपयुक्त नहीं है और महर्षि चरक भी इससे सहमत नहीं हैं इसीलिए तो वे कहते हैं कि "यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म" अर्थात् यज्ञों में अभिमन्त्रित करने के बाद ही पशुपरित्याज्य (समालभनीय) हो जाते थे मारने के लिए नहीं हुआ करते थे। आचार्य के द्वारा इतना स्पष्ट उद्घोष करने के बाद भी केवल गलत अर्थ के कारण चलने वाली परम्परा का उल्लेख करने मात्र की दृष्टि से ही चक्रपाणि ने व्याख्या करते समय दूसरे प्रकार का अर्थ भी यहाँ उद्धृत कर दिया, जिसमें उन्होंने कहा है कि—उनके वध का आदेश शास्त्रों में विशिष्ट उत्पत्ति के लिए किया जाता है। "क्रत्वर्थहिंसायां वधकवध्ययोरुभयोरपि महत्पुण्यमुत्पद्यते" इति; अर्थात् यज्ञ के लिए की जाने वाली हिंसा में वधक एवं वध्य

दोनों को ही भारी पुण्य प्राप्त होता है, यह अर्थ कुछ लोग करते हैं, अथवा कुछ लोग यह भी अर्थ करते हैं कि "किंवा पशूनामेवाभ्यनुज्ञानादिति वेदे पशूनां वध्यत्वेनाभ्यनुज्ञानात्। प्रोक्षणमिति विधिपूर्वकं मारणम्" अर्थात् वेद में पशुओं का वध्यत्व होने की आज्ञा होने के कारण प्रोक्षण का अर्थ "विधिपूर्वक मारण" यह कर लिया जाता है।

सम्भवतः इस तरह के अर्थ के कारण ही पशुओं के वध के योग्य होने की अनुमति होने से प्रोक्षण अर्थात् विधिपूर्वक पशु की बलि देकर पृषध्र ने उस दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञ का सम्पादन किया अर्थात् पृषध्रने अनुपयुक्त अर्थ करके पशुओं को संस्कारित करने की अपेक्षा उनका वध करा दिया। इस वध को देखकर प्राणी अत्यधिक व्यथित हुए, लेकिन उन्हें राजा की आज्ञा से उन बलि दिए गए पशुओं के मांस का उपभोग भी करना पड़ा, जिसके कारण वे अतिसार नामक रोग से ग्रस्त हुए।

चरकसंहिता के उपर्युक्त प्रसङ्ग में कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है जिन्हें यहाँ विश्लेषित कर प्रस्तुत किया जा रहा है—

आलम्भाय

अमरकोश में वध के लिए 30 पर्यायों का प्रयोग किया गया है, उनमें एक नाम आलम्भ भी है जो "आ" उपसर्गपूर्वक "डुलभष् प्राप्तौ" धातु से "घञ्" प्रत्ययपूर्वक आलम्भ बनता है। इसका चतुर्थी के एकवचन में आलम्भाय बनता है, जिसका तात्पर्य है मारने के लिए। यह पद चरकसंहिता के मूल पाठ में प्रयुक्त किया गया है, जो पशु यज्ञ में आलम्भन के योग्य अर्थात् मारने के योग्य होते थे उन्हें समालभनीय कहा जाता था। आलम्भ का अर्थ मारना और पकड़ना दोनों ही होता है।

समालभनीय

यहाँ मूल पाठ में आचार्य चरक कहते हैं कि आदि काल में पशु यज्ञ में समालभनीय अर्थात् पकड़ने या मारने योग्य होते थे, लेकिन उनका आलम्भ अर्थात् मारण के लिए संस्कार नहीं किया जाता था। अतःयहाँ पर समालभनीय का अर्थ पकड़ने के योग्य ही किया जाना महर्षि चरक को अभीष्ट है।

अभ्यनुज्ञानात्

यहाँ अभि और अनु उपसर्ग है तथा ज्ञा ज्ञाने धातु है इसमें लृट् प्रत्यय होने से अभ्यनुज्ञानम् बनता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है स्वीकृति या सहमति।यहाँ चक्रपाणि ने अभ्यनुज्ञानात्को प्रेरणा से या सहमति से यह अर्थ लिया है। अतःयहाँ पर अभ्यनुज्ञानात् का अर्थ सहमति होने से अथवा वध का आदेश होने से इन दोनों में से कोई सा भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

प्रोक्षणम्

यह पद भी मूल पाठ में है जिसकी व्युत्पत्ति है "प्रकृष्टम् उक्षणम्"अर्थात् विशेष रूप से अभिमंत्रित करके जल का सेचन करना, लेकिन इसका दूसरा अर्थ भी है जिसमें विधिपूर्वक मारण को भी प्रोक्षण कहा गया है—"प्रोक्षणमिति विधिपूर्वकं मारणम्"।

उपाकृतानाम्

चरकसंहिता के उपर्युक्त मूल सूत्र में इस पद का भी प्रयोग किया गया है—"कृञ् हिंसायाम्" धातु से "क्त"प्रत्ययपूर्वक उपाकृतः बनता है, जिसका अर्थ है अभिमंत्रित करके मारा गया पशु। यहाँ चक्रपाणि ने भी कहा है कि "उपाकृतानामिति अभिमन्त्र्य हतानाम्। उक्तं हि—"उपाकृतः पशुरसौ योऽभिमन्त्र्य क्रतौ हतः" इति।" इस वाक्य को उन्होंने अपनी व्याख्या की पुष्टि के लिए कहा है यही वाक्य *अमरकोश* में भी है।

चरकसंहिता में वर्णित आख्यान के अनुसार यह है कि पृषध्र ने यज्ञ किया और उसने गाय की बलि दी उसका मांसभक्षण किया जिससे अतिसार उत्पन्न हुआ, लेकिन यह पृषध्र का वर्णन *श्रीमद्भागवत* में दूसरे प्रकार से वर्णित है—

पृषध्र मनु का पुत्र था और वह गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से गायों की रक्षा में नियुक्त था। वह परम गोभक्त था, लेकिन एक बार रात्रि में वर्षा के समय गायों के झुण्ड में बाघ घुस गया, उस बाघ को मारने के लिए और गायों को बचाने के लिए पृषध्र ने अंधेरे में ही तलवार का वार किया। उस तलवार के वार से वह बाघ तो चालाकी से बच गया और एक गाय कट गई। उस कटी हुई गाय को देखकर पृषध्र अत्यधिक दुःखी हुआ और वशिष्ठ जी के शाप के कारण वह क्षत्रिय धर्म से च्युत होकर वन में रहकर तपस्या में लीन हुआ और तपस्या करते हुए की गई प्रायश्चित्त की प्रक्रिया के कारण उस गाय के वध के दोष से मुक्त हुआ और मोक्ष को प्राप्त किया। इस केआधार पर यह कहा जा सकता है कि पृषध्र के यज्ञ में पशुवध नहीं हुआ।

यहाँ पर चरकसंहिता में इस प्रसङ्ग में कुछ विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है वे विशिष्ट शब्द हैं— आलम्भाय, समालभनीयाः, अभ्यनुज्ञानात्, प्रोक्षणम् और उपाकृतानाम्, जोकि अपने-अपने स्थान पर इस विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं।

इन शब्दों का दो तरह से अर्थ किया जा सकता है। इनमें एक अर्थ तो यह है कि यज्ञ में पशु अभिमन्त्रित (संस्कारित) करने के लिए लाए जाते थे जबकि दूसरा अर्थ यह है कि यज्ञ में पशु समालम्भ (मारण) के लिए लाए जाते थे।

आचार्य चरक के उपर्युक्त वचनों के निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यज्ञ में पशु मारने के लिए नहीं लाए जाते थे संस्कारित करने के लिए लाए जाते थे, लेकिन पृषध्र ने यहाँ दूसरा अर्थ लगाया जो

हिंसापरक था तथा अनुपयुक्त भी था (अनुपयुक्त होने के कारण ही भूतगण व्यथित हुए)। उन पशुओं को प्रोक्षण अर्थात् केवल अभिमन्त्रित करके जल छिड़कने की प्रक्रिया करके छोड़ देना मात्र था, लेकिन पृषध्र ने प्रोक्षण का दूसरा अर्थ लिया, जिसमें प्रोक्षण का अर्थ बलि चढ़ाने के लिए किया जाने वाला पूजार्थक विधान भी है, जैसा कि अमरकोश में कहा गया है—परम्पराकम् शमनम्, प्रोक्षणञ्च वधार्थकम् और "प्रोक्षणंसेकवधयोः" इतिहैमः।

अर्थात् प्रोक्षण पद सिंचन और वध दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है, जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो वह अर्थ लगाया जाना चाहिए , यह सामान्य नियम है। यहाँ प्रोक्षण का अर्थ पशु को अभिमन्त्रित करके सिंचन करके पवित्र करना ही करना चाहिए था लेकिन ऐसा न करके पृषध्र ने दूसरा अर्थ किया जिसमें प्रोक्षण का अर्थ है "प्रोक्षणमिति विधिपूर्वकं मारणम्"। और यह अर्थ करके ही उन्होंने पशुबलि दी। जिससे भूतगण व्यथित भी हुए और उस बलि दिए गए मांस का भक्षण करने से उदर में विकृति भी हुई। अतएव शोक एवं आहारविकृति इन दोनों कारणों से ही अतिसार की उत्पत्ति हुई।

वैदिक विधा में यज्ञ एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है इस यज्ञ में होम करना प्राथमिक प्रक्रिया है। यह होम किसका किया जाए इसका सांकेतिक स्वरूप में वेदों में उल्लेख किया गया है, लेकिन अर्थवैभिन्न्य के कारण एवं समय-समय पर युगानुरूप सन्दर्भ के प्रभाव के कारण यज्ञ करने की विधाओं में पर्याप्त अन्तर आ जाने से कुछ जटिलताएं हो गई हैं तथा कहीं कहीं पर विरोधाभास का स्वरूप भी विवाद का विषय रहा है।

प्रमुख रूप से यज्ञ की तीन विधाएं मानी जाती हैं—इष्टि यज्ञ, पशुबन्ध यज्ञ एवं सौमिक यज्ञ। परम्परागत रूप से ऐसा माना जाने लगा है कि इष्टि यज्ञ में पुरोडास की मुख्य आहुति दी जाती है जबकि पशुबन्ध में पशु की आहुति एवं सौमिक यज्ञ में सोमरस की प्रमुख रूप से आहुतियाँ दी जाती हैं।

वेदों का विश्लेषण ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है लेकिन ब्राह्मणग्रन्थों में सभी विषयों का स्पष्टतः विश्लेषण प्राप्त नहीं होता। ब्राह्मणग्रन्थों में पशुबन्ध के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विवरण हैं, उनमें इष्टि पशुबन्ध भी कहा गया है। यज्ञ का विभाजन करते समय ब्राह्मणग्रन्थों में देवसव एवं मनुष्यसव यह दो प्रकार का विभाजन है, जिसमें सोम यज्ञ और पशुबन्ध यज्ञ ये देवसव की श्रेणी में आते हैं तथा इष्टि यज्ञ को मनुष्यसव की श्रेणी में रखा गया है, यथा—

'पृथिसवः' का वर्णन करते समय *तैत्तिरीय ब्राह्मण* 2.7.5 /1 (*तैत्तिरीयब्राह्मणम्*, विस्वरपाठः/ काण्डः 2/ प्रपाठकः 07/5-1) में कहा गया है कि—

यो वै सोमेन सूयते। स देवसवः। यः पशुना सूयते। स देवसवः। य इष्ट्या सूयते। स मनुष्यसवः। एतं वै पृथये देवाः प्रायच्छन्। ततो वै सोऽप्यारण्यानां पशूनामसूयत। यावतीः कियतीश्च प्रजा वाचं वदन्ति। तासां सर्वासां सूयते (तै.ब्रा.2.7.5.1)

वैदिक काल से ही यज्ञ को धार्मिक प्रक्रिया का प्राथमिक अङ्ग माना गया है ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषद् आदि के विभिन्न प्रकार के यज्ञसंबंधी विश्लेषण के आधार पर देखा जाए तो 3 प्रकार के यज्ञ माने गए हैं— इष्टि यज्ञ, पशुबन्ध यज्ञ एवं सौमिक यज्ञ। इनमें इष्टियज्ञ पूर्णरूपेण सात्त्विक स्वरूप का है इसमें केवल पुरोडास की मुख्य आहुति दी जाती है। पशुबन्ध में पशु का विशेष महत्त्व है इस यज्ञ के विषय में विश्लेषणकर्ताओं में पर्याप्त मतभेद है, कुछ का मानना है कि इसमें पशु की बलि दी जाती है जबकि कुछ व्याख्याकर्ताओं का यह मानना है कि इसमें पशु का विधिवत् पूजा करने के बाद उसे पवित्र स्वरूप में छोड़ दिया जाता है। यज्ञ का तीसरा स्वरूप सौमिक यज्ञ है इसमें सोमरस की प्रमुख रूप से आहुतियाँ दी जाती हैं। विद्वानों ने सोमरस का भी अनेक प्रकार से विश्लेषण किया है। इन तीनों ही यज्ञों के विषय में अधिकृत रूप से विश्लेषण करने के अधिकारी वैदिक विद्वान् ही हैं फिर भी यहाँ आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से अहिंसा के स्वरूप को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि पशुबन्ध यज्ञ में पशु की बलि न देकर केवल उसकी पूजा करके उसे छोड़ दिया जाना ही उपयुक्त है।

इस प्रकार से *तैत्तिरीयब्राह्मण* में पशुबन्ध को देवसव माना है तथा देवसव में (देवयज्ञ में) देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं की आहुति न दी जाकर उनके नाम से पशु भेंट किए जाने चाहिए, जो कि ज्यादा उपयोगी हैं, पशु प्राचीन काल से ही वृत्ति के लिए (धनैषणा के लिए) सर्वोत्कृष्ट साधन माने गए हैं। व्यापार में भी वैदिक काल से ही पशुओं का आदान-प्रदान होता आया है तथा दान इत्यादि धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में भी पशुओं का दान सर्वोत्कृष्ट माना गया है, इसका वेदों में अनेक प्रकार से अनेक स्थानों पर उल्लेख है। ऐसे महत्त्वपूर्ण पशुधन का बलि देकर नष्ट करना धार्मिक कार्य नहीं माना जा सकता है।

पशुबन्ध को बलि या वध के रूप में देखने से पहले यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि *अमरकोश* में वध के पर्याय के रूप में 30 नामों का उल्लेख है उनमें एक आलम्भ भी है। अतः जहाँ कहीं भी आलम्भ शब्द आया है तो उसका अर्थ मारण कर लिया जाता है।इसी से सम्बन्धित एक समालभनीय शब्द भी है जो पशु यज्ञ में आलम्भन करने योग्य होते हैं उन्हें समालभनीय कहा जाता है, अब यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आलम्भ का अर्थ केवल मारना ही नहीं होता है अपितु आलम्भ का अर्थ पकड़ना भी होता है (संस्कृत-हिंदी-कोश—आप्टे)।

चरकसंहिता के अतिसार के प्रकरण में महर्षि चरक एवं व्याख्याकार चक्रपाणि के वचनों को देखें तो उनका यह मानना है कि आदि काल में पशु यज्ञ में समालभनीय अर्थात् पकड़ने योग्य होते थे, लेकिन उनका आलम्भ अर्थात् मारण के लिए संस्कार नहीं किया जाता था। अतः यहाँ यह अर्थ लेना चाहिए कि उन्हें पहले पकड़ा जाता था फिर संस्कारित यूप में बाँधकर उनकी पूजा करके संस्कारित किया जाता था और संस्कारित करने के बाद उन्हें छोड़ दिया जाता था, महर्षि चरक एवं चक्रपाणि का यही भावार्थपरक निष्कर्ष है। अतः

यह स्पष्ट है कि महर्षि चरक को यज्ञ के लिए लाए जाने वाले पशु को संस्कारित करके छोड़ देना ही अभीष्ट था मारना उन्हें अभीष्ट नहीं था।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. *चरकसंहिता* चक्रपाणि टीकासहित, सम्पादक- श्री यादव जी त्रिकमजी आचार्य
2. *चरकसंहिता* प्रथम खण्ड-प्रोफेसर वैद्य बनवारी लाल गौड़कृत एषणा टीकासहित
3. *चरकसंहिता* द्वितीयखण्ड-प्रोफेसर वैद्य बनवारी लाल गौड़कृत एषणा टीकासहित
4. *चरकसंहिता* तृतीय खण्ड-प्रोफेसर वैद्य बनवारी लाल गौड़कृत एषणा टीकासहित
5. *ब्रह्मवैवर्त पुराण*
6. *अमरकोश* रामाश्रमी व्याख्यासहित
7. *शतपथब्राह्मण*
8. *तैत्तिरीयब्राह्मण*
9. *निरूढपशुबन्ध-* वेदमर्मज्ञ पंडित मधुसूदन जी ओझा
10. *स्वस्थवृत्तविवेचन-* प्रोफ़ेसर वैद्य बनवारी लाल गौड़ एवं डॉ विश्वावसु गौड़
11. *श्रीमद्भागवत*
12. *संस्कृतहिंदीकोश-* आप्टे

(1) बी.ए. एम. एस. (आयुर्वेदाचार्य), एम.डी. (आयुर्वेद)
असिस्टेंट प्रोफेसर, महात्मा ज्योतिवा फूले आयुर्वेद महाविद्यालय
हाडोता, जयपुर (राजस्थान)

(2) (म.म.राष्ट्रपति-सम्मानित) भिषगाचार्य, आयुर्वेद-बृहस्पति, एम. ए. (संस्कृत),
पीएच.डी.(आयुर्वेद), डिप्लोमा इन जर्मन
पूर्व निदेशक,
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर
पूर्व कुलपति, डॉ. एस. राधाकृष्णन् राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर।

आवास—80 चम्बल मार्ग, सेन कालोनी,
प्रेमनगर, झोटवाड़ा,
जयपुर-302012
चलवाणी—9829077697

'जीवेम शरदःशतम्' की सिद्धि में आयुर्वेद की भूमिका

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

भारतीय परम्परा वेद को परमात्मा के निःश्वास से समुद्भूत मानती है। परमात्मा अनादि और अनन्त है अतः वेद भी अपौरुषेय होने के कारण तद्वत् अनाद्यनन्त एवं सहजज्ञानमय है। प्राकृतिक प्रपञ्च की लीलामय सर्जना के क्रम में मानवी सृष्टि हुई। देह की रचना हुई। दुःख द्वन्द्व रचे गये और इसी क्रम में उत्पत्ति, स्थिति, संहार चक्र को गतिशील बनाने में उपयोगी जरामृत्यु की कल्पना हुई। जीव बने तो उनकी आयु का भी **शतायुर्वै पुरुषः** कहकर निर्धारण हुआ। प्रारब्धानुसार जीव की आयु के विघातक विविध रोग जब शतायु की प्राप्ति में बाधक बनने लगे तो उनके निवारण में समुद्यत आयुर्वेद शास्त्र वेद विहित सतत उपकारक के रूप में सम्मुख हुआ। व्यक्ति की जीवनावधि 'आयु' के नाम से जानी जाती है। जीव की पूर्ण स्वस्थ आयु ही उसके परम प्राप्तव्य चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति में परमोपकारक साधन है। अतएव शास्त्रों में शतायु की कामना विहित है। प्रसङ्गात् यहाँ आयु के सन्दर्भ में भी कुछ स्पष्टतः जानना अपेक्षित है।

व्याकरणशास्त्र के अनुसार गमनार्थक इण धातु से एति गच्छति अर्थ में 'एतेर्णिच्च' औणादिक सूत्र से 'उति' प्रत्यय के योग से सिद्ध होने वाला आयु शब्द कालावधि यापन का अर्थ बोधित करता है। यह व्यक्ति की अत्यन्त मनोहर सम्पत्ति है जिसके माध्यम से वह अपने चरम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। अतएव शास्त्रों में अनिवार्य अनुष्ठेय कर्म के रूप में प्रतिपादित संध्योपासना में व्यक्ति—**पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्** के रूप में उपास्य देवता से नित्य इस आशीर्वाद की याचना करता है। यह व्यक्ति की अत्यन्त संरक्षणीय निधि है जिसके माध्यम से वह निरन्तर उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में गतिशील रह सकता है। *चरक संहिता* में आयु का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।। (च.सं.1)

शरीर, इन्द्रिय (दश इन्द्रियाँ), सत्व (मन), तथा आत्मा (ज्ञानप्रति सन्धाता) का संयोग आयु है। धारि आयु का पर्याय है। शरीर को धारण करने के कारण ही आयु को 'धारि' ऐसा कहा गया है एवं प्राणधारण करने के कारण आयु को 'जीवितम्' कहा जाता है। शरीर के नित्य बीतते जाने अर्थात् क्षीण होने के कारण वह 'नित्यगः' है तथा अनुबन्ध (शरीर का संयोग रूप) भी वह आयु ही है। आयु की और सूक्ष्म परिभाषा

प्रस्तुत करते हुए आयुर्वेद में चैतन्यानुवृत्तिरायुः ऐसा कहा गया है। शरीर में चेतना की निवासावधि आयु है। चैतन्य की प्रतिक्षण अनुवृत्ति आयु है। चेतना के शरीर से निकल जाने की स्थिति ही 'मृत्यु' कही जाती है। श्रीभगवती ही 'चित्' शक्ति है। तन्त्रशास्त्र में भी कहा गया है—**चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।**

श्रीदुर्गाशप्तशती के पांचवें अध्याय की देवी स्तुति में कहा गया है—

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतत् व्याप्यस्थिता जगत्। नमस्तस्यै... (5.80)

इस आयु को प्राप्त करने का साधन जिस शास्त्र में वर्णित, संग्रहीत और प्रतिपादित है उस शास्त्र को 'आयुर्वेद' के नाम से जाना जाता है। आयुर्वेद की निरुक्ति करते हुए सुश्रुत संहिता में कहा गया है—

आयुरस्मिन् विद्यते अनेन वा आयुर्विन्दन्ति, इत्यायुर्वेदः। (सु.सं.1.16)

अर्थात् वह शास्त्र जिसमें आयु की चर्चा विद्यमान हो अथवा जिसके अध्ययन एवं प्रतिपादित अनुशासन के अनुपालन से आयु प्राप्त होती हो, को 'आयुर्वेद' नाम से जानना चाहिए। आयुर्वेद को अथर्ववेद के उपवेद के रूप में वर्णित करते हुए कहा गया है—

इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमर्थवमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्र-मध्यायसहस्रं वा कृतवान् स्वयम्भूः ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। (सु.सं.1.9)

यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है। प्रजाओं को सृष्टि के पूर्व ही स्वयम्भू ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों तथा एक हजार अध्यायों में विभक्त 'आयुर्वेद' शास्त्र का उपदेश किया। तदनन्तर जीवों के अल्पायु और क्षीयमाण धारणाशक्ति को दृष्टिगत रखते हुए पुनः उसे आठ अङ्गों में विभाजित कर दिया।

भैषज्य विज्ञान पर सर्वाधिक सामग्री अथर्ववेद में ही सुस्पष्ट उपलब्ध होती है। शायद इसी कारण आयुर्वेद को *अथर्ववेद* के उपांग के रूप में वर्णित किया गया है। इसी में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त समाहित हैं। *अथर्ववेद* में औषधियों के विषय में सूक्ष्म दृष्टि से विशद विचार किया गया है। प्रत्यक्षतः अथर्ववेद के सूक्तों में 290 औषधियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद में औषधियों को चार भागों में विभाजित किया गया है—1. वनस्पति, 2, वानस्पत्य, 3. वीरुध, 4. औषधि। इसके साथ ही मानव शरीर में रोगों की उत्पत्ति के कारण उनका निदान और तदनन्तर उनकी सम्यक चिकित्सा की विशद विवेचना अथर्ववेद के विभिन्न सूक्तों में उपन्यस्त है। अथर्ववेद के 19वें काण्ड में अन्य विषयों के साथ-साथ भैषज्य विज्ञान का भी उल्लेख प्राप्त होता है। 9वें काण्ड, 8वें सूक्त के चौथे मन्त्र में कहा गया है—

यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्।
सर्व शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे।। (अ.वे.9.8.4)

'हे यजमान! जो रोग मनुष्य को बहरा बना देते हैं, जो अन्धा कर देते हैं तुम्हारे उन सिर से सम्बन्धित उन सारे रोगों को हम मन्त्रशक्ति के द्वारा शरीर से बाहर आमन्त्रित करते हैं।' अथर्ववेद के ही प्रथम काण्ड के दूसरे सूक्त में रोगोपशमन की प्रार्थना, तीसरे सूक्त में विशिष्ट उपचार द्वारा शरीरस्थ मूत्र विकारों को बाहर निकालने का वर्णन है। स्थूल दृष्टि से 'शर-शलाका' प्रयोग से अवरुद्ध मूत्र प्रवाह को बहिर्गत करने का यह उपचार क्रम प्राचीन समय से अब तक मान्य है। उसी काण्ड के चौथे पांचवें एवं छठे सूक्तों में 'अपां भेषज' (जल चिकित्सा) का भी विवरण उपलब्ध होता है। 11वाँ 'नारी सुखप्रसूति' सूक्त तथा 12वाँ 'यक्ष्मा नाशन' सूक्त है। सत्रहवां 'रुधिरस्रावनिवर्तनधमनीबन्धन' सूक्त है। 22वाँ 'हृद्रोगकामला नाशन' सूक्त है।

23 तथा 24वाँ सूक्त 'श्वेतकुष्ठनाशन' एवं 25वाँ सूक्त 'ज्वरोपशामक' है। अथर्ववेद के दूसरे काण्ड का 25वां सूक्त 'पृष्निपर्णी' सूक्त है। इसमें वनौषधि के प्रभाव का उल्लेख है। सूक्त के देवता के रूप में वनस्पति का उल्लेख है। पृथ्वी से उत्पन्न वनस्पतियाँ ही औषधि के रूप में मनुष्य के शरीर में व्याप्त रोगों का सक्षम निवारण करती हैं। दूसरे ही काण्ड का 30वाँ सूक्त 'कामिनी मनोऽभिमुखीकरण' जो स्पष्टतः आयुर्वेद में वर्तमान वाजीकरण औषधिप्रकरण की ओर ही इंगित करता प्रतीत होता है। 31वाँ सूक्त 'कृमिजम्भन एवं 32वाँ 'कृमिनाशन' है। 33वां 'यक्ष्म निबर्हण' सूक्त है। जिसमें कहा गया है—

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्म शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वया वि वृहामि ते।। (अ.वे. 2.33.1)

हे रोगिन! आपके दोनों नेत्रों, कानों, दोनों नासिकारन्ध्रों, ठोढ़ी, सिर, मस्तिष्क एवं जिह्वा से हम यक्षमा रोग को बहिष्कृत करते हैं। तीसरे काण्ड के 7वें 'यक्ष्मनाशन सूक्त' में तो स्पष्ट रूप से यक्ष्मा को क्षेत्रिय अर्थात् आनुवंशिक रोग कहा गया है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने सखा एवं शिष्य अर्जुन को उद्बोधित करते हुए कहा है कि—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। (*गीता,* 13.1)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र नाम से जाना जाता है। इसको जो समग्र रूप से जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कुछ रोग बाहरी विषाणुओं से पनपते हैं। कुछ रोग आनुवंशिक अथवा अन्य कारणों से शरीर के अन्दर से ही उत्पन्न होते हैं। क्षेत्र अर्थात् शरीर से ही पनपने के कारण उन्हें 'क्षेत्रिय' (आनुवंशिक) संज्ञा दी गई है तथा उनके निवारण में मृगशृंग का उपयोग आयुर्वेद में अद्यावधि प्रतिष्ठित है—

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्।। (अ.वे. 3.7.1)

'दुतगति से दौड़ने वाले हरिण के शीर्ष में रोगों को विनष्ट करने की औषधि विद्यमान है। वह अपने विषाण अर्थात् सींग से क्षेत्रिय रोगों को विनष्ट कर देता है।' चौथे काण्ड का चौथा सूक्त 'वाजीकरण' है। इस में बलवीर्यवर्द्धक औषधि का वर्णन है। छठवें काण्ड के 14वें सूक्त में हड्डियों और जोड़ों में दर्द पैदा करने वाले शरीर के बलनाशक श्वास, खाँसी तथा हृदय में व्याप्त रोगों के निवारण की प्रार्थना उपलब्ध होती है। आठवें काण्ड का 7वाँ सूक्त 'औषधि समूह' सूक्त नाम से जाना जाता है। इसके देवता भैषज्य, आयुष्य, औषधि समूह है। इसमें कहा गया है—

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि। (अथ.8.7.1)

भूरे, सफेद, लाल, नीले और काले ऐसे विचित्र वर्णों तथा छोटे शरीर में वाली औषधियों के सम्मुख उपस्थित होकर हम उनका रोगनिवारण हेतु आह्वान करते हैं। वैद्यक शास्त्र में औषधि हेतु विशिष्ट प्रयोगों के लिए मन्त्रोच्चारण पूर्वक उनके ग्रहण करने के पूर्व आमन्त्रित करने की अभी भी परम्परा है। अथर्ववेद के दशम काण्ड का चौथा सूक्त 'सर्पविषदूरीकरण' है। इसमें सर्पविषनाशक औषधियों का नामतः उल्लेख प्राप्त होता है—

दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः।
रथस्य बन्धुरम।। (अथ.10.4.2)

'यह कुशा सामान्य सर्पों के लिए शोकप्रद, अश्व नामक औषधि सर्प विषनाशक एवं पुरुष नामक औषधि विषनिवारक है। रथ बन्धुर और तरुणक (तृण विशेष) ये सभी सर्पों का विष दूर करने में सक्षम हैं। उपर्युक्त उद्धृत विवरणों को दृष्टिगत रखते हुए यह तथ्य स्पष्ट ज्ञात होता है कि अथर्ववेद में आयुर्वेद की चर्चा विशद रूप से हुई है। शुक्ल यजुर्वेद में रुग्ण मानव शरीर को नीरोग बनाने और निरंतर स्वस्थ रहने की अनेक विधियों के प्रसङ्ग वर्णित प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर आयुर्वेद के मूल उत्स उधर भी स्पष्ट अन्वेषित किये जा सकते हैं। *शुक्ल यजुर्वेद* के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र—

इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मध्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशतमाघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यातं बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि। (1.1)

'आप हमारे प्राण अन्तःकरण और इन्द्रियों को श्रेष्ठ यज्ञ कर्मों में प्रवृत्त करें। हम अन्न और विज्ञान की प्राप्ति तथा बल एवं पराक्रम की सिद्धि हेतु आपको छोड़कर किसी अन्य का आश्रय न लें क्योंकि आप ही समस्त ऐश्वर्य प्रदाता हैं। आप की कृपा से हमारे पशु इन्द्रियाँ तथा सभी पदार्थ रोगों एवं राजयक्ष्मा से मुक्त रहें। आप की कृपा हमें चौर्य से बचाये रखे। यजमान के सारे पशुओं की रक्षा करें।' शुक्ल यजुर्वेद के 12वें

अध्याय के 77वें एवं 80वें मन्त्र में औषधि प्रयोग से रोग पर विजय प्राप्त कर आनन्दित होने का सन्देश प्राप्त होता है। वहीं 12वें अध्याय के 97वें मन्त्र में—

नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी।। (शु. य. 12.97)

'भैषज्यविज्ञान' के वेत्ताओं को प्रत्येक रोग की औषधि खोजते रहने में निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। बलनाशक अर्श (बवासीर), यक्ष्मा आदि अनेक रोग है जिनके निवारण हेतु भैषज्य विधा को भली-भाँति ज्ञात करना चाहिए। शुक्ल यजुर्वेद में पर्यावरण की शुद्धि. रोग को उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं को नष्ट करने, आरोग्य एवं दीर्घायु के लिए सुगन्धित पुष्टिकारक तथा रोगनाशक द्रव्यों से होम करने पर बल दिया गया है। होम के द्वारा सुगन्धित द्रव्य, पृथ्वी आदि में फैलकर वायु और जल के द्वारा औषधियों में प्रविष्ट होकर सबको शुद्ध करके आरोग्यता प्रदान करते हैं। ये आयुवृद्धि कारक भी हैं—

पृथिव्यै स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः
स्वाहाऽन्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिपल्वेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः
स्वाहा सरीसपेभ्यः स्वाहा।। (शु.यजु. 22.29)

सभी मनुष्य पृथ्वी, आकाश विद्युत, सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल, नक्षत्र, जल, औषधि, वनस्पति, गतिशील तारागण, स्थावर जगम आदि पदार्थों की शुद्धि के लिए यज्ञ करें। यह सुगन्धित होम औषधि, जल, सूर्य और विद्युत का शोधन करता है। सर्वत्र शान्तिमय वातावरण बनाये रखने के लिए *शुक्लयजुर्वेद* के 36यें अध्याय के 17वें मन्त्र में कहा गया है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः
शान्तिविश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।
(*शु.य.* 36.17)

मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल व प्राण, सोमादि औषधियाँ, वट आदि वनस्पतियां, विश्वेदेवा, ब्रह्म, ईश्वर सभी वस्तुएँ शान्ति कारक हों। शुक्ल यजुर्वेद के—

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्।। (*शु.यजु*, 25.17)

आदि मन्त्रों में स्पष्टतः भैषज्य विज्ञान के निहित संकेत अन्वेषित किये जा सकते हैं। *ऋग्वेद* में भी दशवें मण्डल के 97वें सूक्त में 23 मन्त्रों का एक स्वतन्त्र सूक्त औषधि एवं भैषज्य विज्ञान की चर्चा से अभिव्याप्त है। इनका प्रयोग ज्वर बाधाग्रस्त रोगी के रोग निवारण में होता है।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनैनु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च।। (*ऋग्वेद*, 10.97.1)

'पुराकाल में तीन युगों यद्वा तीन ऋतुओं (वसन्त, वर्षा और शरद) में, जो औषधियाँ देवताओं ने बनाई हैं वे सब पिंगलवर्ण औषधियाँ (मनुष्य के) एक सौ सात (मर्म) स्थानों में विद्यमान हैं, ऐसा मुझे ज्ञात है।' अथवा—

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः।। (*ऋग्वेद*, 10.97.3)

'हे औषधियों! तुम फूल और फलवाली हो। तुम रुग्ण व्यक्ति के प्रति सन्तुष्ट रहो तथा घोड़ों की भाँति उसके देह में व्याप्त रोगों के प्रति जयशील बनो और पुरुषों को रोगों से पार ले जाने में सक्षम हो।' वायु की स्तुति में प्रवृत्त सूक्त के मन्त्र—

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्रण आयूंषि तारिषत्।। (*ऋग्वेद*, 10.186.1)

वायु औषधि के समान हमारे हृदय के लिए स्वास्थ्यकर होकर आयें। यह हमारी आयु का विस्तार करें। श्री शौनककृत '*चरण व्यूह सूत्र*' जो 5 खण्डों में विभक्त है तथा जिसमें ऋग्वेद , यजुर्वेद, सामवेद और अवर्ववेद की शाखाओं का विवरण एवं फलश्रुति प्राप्त होती है, के अनुसार आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद स्वीकार किया गया है।

चरणव्यूहमते ऋग्वेदस्योपवेदः आयुर्वेदः।

ब्रह्मवैवर्तपुराण तो आयुर्वेद की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारते हुए घोषित करता है कि—

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः।
विचिन्त्य तेषामर्थं चैवायुर्वेदं चकार सः।।

मत्स्यपुराण में आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपाङ्ग माना गया है।

यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेद उद्धृतः।
तथा शेषश्च तत्रैव वेदं साङ्गमवाप्तवान्।।
अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदं च लब्धवान्।
एकदा स महीवृत्तं द्रष्टुं चर इवागतः।। (*भावप्रकाश*, पूर्वखण्ड 57. 58)

भावप्रकाश के अनुसार, आयुर्वेद को अथर्ववेद का सर्वस्व स्वीकार किया गया है।

विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्।। (*भावप्रकाश*, पूर्वखण्ड 5)

यह विषय महती चिन्तना और विशद विवेचन का है। प्रस्तूयमान शोधपत्र के कलेवर और समयावधि को ध्यान में रखते हुए सबको इसमें पिरो पाना सम्भव नहीं। किन्तु अन्तरङ्ग साक्ष्यों के परीक्षण और उद्धरणों का अवलोकन तथा आयुर्वेद के परमाचार्य महर्षि सुश्रुत के स्वयं के स्वीकार को देखते हुए आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद स्वीकार करना युक्तिसङ्गत मान्य प्रतीत होता है। समासतः कहा जा सकता है कि आयुर्वेद का बीज वपन ऋग्वेद में मूलायित होकर यजुर्वेद में प्रस्कन्धवान् हुआ और अथर्ववेद में पल्लवित-पुष्पित होते हुए विकास की पूर्ण परिणति को प्राप्त हुआ।

आज का आयुर्वेद विज्ञान अपनी स्वतन्त्र सत्तापीठ पर विराजमान है। यह परम लोकोपकारक एवं आदरणीय है पर इसका मूल वेदों में ही अन्तर्निहित है। इसीलिए इसे 'उपवेद' प्रतिष्ठा भी प्राप्त है।

असिस्टेंट प्रोफेसर,
संस्कृतविभाग, आर्य महिला पी.जी.कॉलेज,
वाराणसी
चलवाणी—7376016995

प्रत्यभिज्ञादर्शन में आभासवाद

कीर्तिका भट्टाचार्य

भारतीय दार्शनिक परम्परा में भेद-अभेद, सत्-असत् तथा कार्य-कारण से संबंधित प्रत्येक दार्शनिक विधा का अपना प्रसिद्ध सिद्धान्त है जिसके माध्यम से वह अपने मत का प्रतिपादन करता है। सांख्य व योग का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त व परिणामवाद न्याय-वैशेषिक का असत्कार्यवाद का सिद्धान्त, वेदान्त का विवर्त्तवाद, बौद्ध का शून्यवाद व विज्ञानवाद, जैन का अनेकान्तवाद व चार्वाक का देहात्मवाद व भौतिकवाद।

इसी क्रम में प्रत्यभिज्ञानदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है-आभासवाद। इसमें जगत् को मिथ्या अथवा भ्रम अथवा असत् न मानकर पूर्णरूप से यथार्थ माना गया है। शिव को ही जगत् का एकमात्र कारण व कर्ता तथा जगद्रूप अर्थात् कार्य व कर्म भी माना गया है।[1] परमशिव से जगत् का सम्बन्ध नयन, दर्पण, अम्बर व जल पर पड़े प्रतिबिम्ब के समान है।[2] जगत् पूर्ण संवित् का संकुचित प्रकाशन मात्र है जो उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् प्रतीत होता है।[3] विश्वरूप से आत्मस्वरूप का आभास करना ही परमशिव की शिवता है। यह परम शिवता ही उसका नित्य स्वभाव है। इस स्वभाव के कारण ही वह विश्व का आभास करने में पूर्णतः परनिरपेक्ष है।[4]

स्वात्म व्योम में अनर्गल ईशान परम शिव ही इतनी बड़ी सृष्टि और संहार का प्रदर्शन करते है। परमेश्वर का अनर्गल होना उनके स्वातन्त्र्य का परिचायक है शिव का स्वात्मप्रकाश ही स्वात्मव्योम पर चित्ररूप में एक रहते हुए भी दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह अलग प्रतिभासित होता है। इसी स्वात्मव्योम को क्षेमराज चित्र भित्ति कहते हैं, जिसमें शिव स्वेच्छा से विश्व का उन्मीलन और निमीलन करते रहते हैं।[5] आत्मा स्वयं प्रकाश होने से स्वच्छ व स्वतन्त्र है फलतः निर्मल व निरपेक्ष रूप से प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होने के कारण ही वह रत्नवत् भासमान है। आभासवादी परमाद्वय भूमि पर सुख-दुःख बंध-मोक्ष और चिति-जड़ सभी कुछ घट और कुम्भ के समान ही एकार्थवाचक है अर्थात् एक प्रकाश के ही संकुचित रूप है।[6] क्योंकि द्वैत प्रतिभासन हो या अद्वैत प्रतिभासन हो, प्रत्येक अवस्था में प्रकाशरूप परमेश्वर ही प्रतिभासित है।[7] जिस प्रकार विचित्र नगर, ग्राम, भूमि, जल आदि अविभक्त होने पर भी दर्पण बिम्ब में एक दूसरे तथा स्वयं उस दर्पण से भी भिन्न रूप में भासित होते हैं उसी तरह एक ही प्रकाश रूप परमेश्वर में यह समग्र विश्वव्यवहार अमिश्रिम रूप से प्रतिफलित है।

'आ' उपसर्गपूर्वक 'भास' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'आभास' की सिद्धि होती है। आ का अर्थ हैं किञ्चित् या संकुचित और भास का अर्थ है प्रकाशित होना। आभास का अर्थ ईश्वर का किञ्चित प्रकाशित

होना ही है। इस किञ्चित् प्रकाशन में सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ प्रकाशित हो उठते हैं। अन्तःस्थित विश्व का बाह्य रूप में अवभासन, उन्मीलन, प्रकाशन, आभास अथवा उन्मेष होता है, ऐसा शैव दार्शनिकों का मत हैं। जो पदार्थ महेश्वर के ज्ञानस्वरूप हैं वे ही पदार्थ इस विश्वरूप में ज्ञेय रूप से प्रकट होते हैं। ये सभी ज्ञानरूप आन्तरिक पदार्थ महेश्वर में 'अहम्' के रूप में विश्रान्त रहते हैं और इच्छा से ही 'इदम्' रूप से आभासित होते हैं। जैसे महेश्वर नित्य ज्ञान स्वरूप व सत्य हैं, उसी प्रकार ये आभास भी सत्य हैं, मिथ्या नहीं। वहीं इस विषय में अन्य दार्शनिकों के मत भिन्न-भिन्न हैं। नैयायिक विश्व की उत्पत्ति, सांख्य परिणाम और वेदान्ती विश्व को माया का विकार मानते हैं।[8]

आभासवाद एक प्रकार का सत्कार्यवाद है क्योंकि जगत् यहाँ कोई नवीन उत्पत्ति नहीं है परन्तु यह किसी भी प्रकार के विवर्त, विकार व परिणाम से विलक्षण सत् है। संवित् ही वह सत्ता है जो जगत् प्रपञ्च के रूप में आभासित होता है। इसीलिए उस प्रपञ्च की जो शक्तिरूप में विद्यमानता है, वहीं मुख्य सत्कार्यवाद है।[9] वहीं विद्वानों के द्वारा अभिमत है। सर्वदा चैतन्य परमशिव ही कारण रूप में स्थित है और वही कार्यरूप भी है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा से वह स्वतन्त्र कर्ता जब चाहे तब कार्य बनता है और जब चाहे तब कारण। इसीलिए कार्य कारण में कोई भेद नहीं है। भेद केवल अभिव्यक्ति का ही है। जब शिव कारण रूप है उसमें 'अहम्' का विमर्श रहता है और जब वह कार्य (जगत्) रूप है तक उसमें 'इदम्' का प्राधान्य रहता है। न तो प्रकृति के समान जड़ वस्तु किसी का कारण हो सकती है और न ही ब्रह्म के समान शक्तिहीन चेतन अपितु चिति शक्ति सम्पन्न संवित् कर्ता ही सृष्टि प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है। परमशिव का यही स्वातन्त्र्य है कि वह अपने स्वरूप (अभेद व एकत्व) को जानते हुए भी विश्व (भेद व अनेकत्व) को सत् रूप से अवभासित करता है।[10]

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिवाद्वयवाद का आधार एकात्मवाद है, एकात्मवाद का अपरपर्याय है अभेदवाद व अभेदवाद की सिद्धि होती है आभासवाद के सिद्धान्त से, आभासवाद के सिद्धान्त का व्यावहारिक आधार है-प्रतिबिम्बवाद। आभासन की विधि को बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त से समझना अधिक सुगम है।

अपने से अन्य और अपने आश्रय से व्यामिश्रित होने के कारण आश्रय से पृथक् जिसका स्वतन्त्र अवभासन अशक्य हो, वहीं प्रतिबिम्ब है।[11] जैसे दर्पण और मुख। मुख से दर्पण अन्य है, किन्तु जब दर्पण में मुख की छाया पड़ती है तो दर्पण मुख का आश्रय हो जाता है। आश्रय से इस छाया का तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः छाया उससे पृथक् और स्वतन्त्र नहीं हो सकती वरन् परतन्त्र है और उसमें तादात्म्य भाव से भासन भी होता है, ऐसी विशेषताओं वाला ही प्रतिबिम्ब होता है।[12]

यह विश्व, बोध से उसी तरह तादात्म्य भाव से मिला हुआ है। जैसे मुख दर्पण के साथ तादात्म्य भाव से मिश्रित है। जैसे दर्पण से मुख का भेद भरा भासन अशक्य है उसी तरह बोध से विश्व को अलग कर नहीं देखा जाता है। यह सिद्धान्त ही है कि ज्ञान-प्रकाश बिना यहाँ कोई पदार्थ प्रकाशित नहीं होता है।

ज्ञान ही उन विभिन्न रूपों से बाहर और भीतर सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं है। इसलिए इस जगत् की ज्ञानरूपता भी सिद्ध ही है।[13] ज्ञान के बिना पदार्थ की अनुभूति किसी के द्वारा नहीं की जा सकती। इसलिए यह निश्चय ही है कि ज्ञान और पदार्थ दोनों ही तादात्म्य भाव से अवस्थित है।[14] ज्ञान और ज्ञोय का एक साथ ही अलग-अलग संवेदन न होने के कारण दोनों की एकरूपता है। जल दर्पणवत् सारा चराचर शिव से व्याप्त है तथा दर्पण में निर्भासित प्रतिबिम्ब की तरह वह भी सदसत् वस्तु का निर्भासन करता है। निर्मल दर्पण में जैसे विरोधीभाव भासित होते हैं, उसी तरह भगवत् चिन्नाथ में सारी विश्ववृत्तियाँ अमिश्रित भाव से भासित होती है तथा अन्तः स्वच्छमणि के समान जिसमें सारे अर्थ प्रकाशित होते हैं।[15]

यह ध्रुव सत्य है कि उस परम ध्रुव अड़िग परमेश्वर रूप मुकुर में ही यह सारा बाह्य विलास अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त भासित प्रतिबिम्ब की तरह ही भासमान है। प्रतिबिम्ब स्वरूप के अतिरिक्त नहीं होता। यह बाह्य विलास उस अद्वय तत्त्व में अद्वय रूप से उल्लसित है।[16]

कहा गया है कि शिव बिम्ब के बिना स्वयं ही स्वच्छ स्वात्म दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण से ही यह सिद्ध है कि स्वात्म प्रभाव से भाव जगत् उल्लसित होता है।[17] कुछ लोगों की मान्यता है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कार्य कारण भाव है। बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति असम्भव है, किन्तु यह उचित नहीं क्योंकि प्रतिबिम्ब में बिम्ब की तादात्म्येन अवस्थिति नहीं है।[18] बिम्ब प्रतिबिम्ब का समवायी/उपादान व निमित्त कारण नहीं है क्योंकि प्रतिबिम्ब तन्तु के संयोग, आकार, परिवर्तन अथवा नवीन रूप की तरह बिम्ब से नहीं बनता अपितु अतिकृत रूप से स्वयं उल्लसित है।[19] परमशिव सृष्टि रचना के लिए निरुपादान होकर मात्र स्वयं से ही, अपनी शक्तियों का परिणमन करते हुए अपनी शक्ति से ही प्रतिबिम्ब रूप से इस विश्व को धारण करते हैं।[20]

वस्तुतः तो इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन शक्तियों से सम्पन्न संवित् परमेश्वर अपने ऐश्वर्य भाव से स्वात्म फलक पर ही विश्व की आकृति को प्रतिबिम्बित करते हैं।[21] आश्रयमिश्र, आश्रयाधीन, पररूपानुकृति व पररूपसदृशता आदि धर्मों से युक्त होने के कारण यह जगत् प्रतिबिम्ब ही माना जाता है।[22] यदि कोई इसे प्रतिबिम्ब न मानकर बिम्ब कहना चाहे तो कह सकता है परन्तु बिम्ब के अन्यव्यामिश्र, स्वतन्त्र व निरपेक्ष सत् रूप से होने से यह कल्पना उचित नहीं है।[23]

निष्कर्षतः शिव का जगत्कर्तृत्व आभासवाद है। शिव अपने प्रकाश रूप स्वभाव के उल्लास और चेतना से सदा संयुक्त होकर अविभाग रूप से समस्त विश्व को अभेद रूप से भासित करते हुए स्थित रहते हैं। जैसे दर्पण में घटादि की स्थिति उससे मिली हुई और भिन्न भी होती है इसी प्रकार ये समस्त भाव पदार्थ चित्र रूप से ईश्वर में प्रतिबिम्बित होते है। वह स्व प्रकाश रूप शिव विश्वरूप में भासित होता है।

सन्दर्भ

1. भावानाभासयन् कर्ता निर्मले स्वात्मदर्पणे।
कार्यकारणभावं च यश्चित्रं तं स्तुमः शिवम्॥ (*ईश्वरप्रत्यभिज्ञा* मंगलाचरण-2)
2. सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु।
तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते॥ (*तन्त्रालोक*-3/5)
3. स्वस्मिन्नभेदाद्भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या।
अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद्गुरुदितम्॥ (*तन्त्रालोक*-3/8)
4. स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता।
तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य जृम्भते॥ (*तन्त्रालोक*-15/166)
5. स्वेच्छया स्वात्मभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। (*प्रत्यभिज्ञाहृदय*-2)
6. अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जड़ः।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च॥ (*तन्त्रालोक*-2/19)
7. इदं द्वैतमयं भेद इदमद्वैतमित्यापि।
प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः॥ (*तन्त्रालोक*-2/18)
8 अन्तःस्थितस्य शिवस्य बाह्यत्वेनावभासः प्रकाशनमुन्मीलनाभासः
उन्मेषो वेति शैवाः, विश्वस्योत्पत्तिरिति नैयायिकाः, परिणाम इति सांख्याः,
विकार इति वेदान्तिनो जगदुः। (*त्रिकदर्शनम्* अध्याय-2, पृ0-25)
9. एतत् सत्कार्यत्वं यथार्थतः। सम्मत सदा सिद्धैः॥
प्राधानिकपरिणामाद्। यत्त्वपरं बालसम्मतं तत्तु॥ (*स्वातन्त्र्यदर्पण*-2/17)
10. इदमेव हि परं स्वातन्त्र्य यत् स्वयं स्वरूपं वेदकमेव सत् वेद्यत्वेन अवभासयति। (*तन्त्रालोक*-1/177)
11. नन्वित्थं प्रतिबिम्बस्य लक्षणं किं तदुच्यते।
अन्यव्यामिश्रणायोगात्तद्भेदाशक्यभासनम्॥
प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा। (*तन्त्रालोक*-3/56)
12. बोधमिश्रमिदं बोधाद्भेदेनाशक्यभासनम्।
परतत्त्वादि बोधे किं प्रतिबिम्बं न भण्यते॥ (*तन्त्रालोक*-3/57)
13. तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत्। (*तन्त्रालोकविवेक*-3/57)
14. न हि ज्ञानादृते भावाः केनचित् विषयीकृताः।
ज्ञानं तादात्मता यातमेतस्मादवसीयते॥ (*महार्थमञ्जरी*-2 में उद्धृत)
15. जलदर्पणवत्तेनं सर्वं व्याप्तं चराचरं।
सदसद्वस्तुनिर्भासी दर्पणप्रतिबिम्बवत्।
यथान्तर्निर्मलादर्शे भान्ति भावा विरोधिनः।

अनामिश्रास्तथैतास्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥
प्रतिबिम्बन्ति यस्यार्थास्त्वन्तः स्वच्छमणेरिव। (*तन्त्रालोकविवेक*-3/21-22)

16. सर्वमेतद्विभात्येव परमेशितिरध्रुवे।
प्रतिबिम्बस्वरूपेण न तु बाह्यतया यतः॥ (*तन्त्रालोकविवेक*-11/93)

17. नाथ त्वया बिना बिम्बं स्वच्छे स्वात्मनि दर्शितम्।
प्रसेना दर्पणेनैव प्रभावद्भावमण्डलम्॥ (*तन्त्रालोकविवेक*-3/65)

18. ननु न प्रतिबिम्बस्य विना बिम्बं भवेत्स्थितिः।
किं ततः प्रतिबिम्बे हि बिम्बं तादात्म्यवृत्ति न॥ (*तन्त्रालोक*-3/59)

19. (क) तत्रपि च निमित्ताख्ये नोपादाने कथञ्चन। निमित्तकारणानां च कदाचित्कापि सम्भवः॥
(ख) अतो निमित्तं देवस्य शक्तयः सन्तु तादृशे। इत्यं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे॥
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः॥ (*तन्त्रालोक*-3/65)

20. आरभमाणः सततं निरुपादानं। स्वतो जगत् सकलम्।
शक्त्या स्वयापरिणमन् बिभ्रत्। प्रतिबिम्बकल्पमिव विश्वम्॥ (*स्वातन्त्र्यदर्पण*-1/2)

21. देवस्य द्योतनात्मनश्चित्तत्त्वस्य, तादृशे विश्वप्रतिबिम्बने ज्ञानक्रियाद्याः शक्तयो निमित्तं भवन्तु एवं न कश्चिद्दोषः संभाव्यते इत्यर्थः।.....निजैश्वर्यमात्रादेव अस्य स्वात्मनि विश्वाकारधारित्वम्। (*तन्त्रालोक*-3/65)

22. नन्वित्थं प्रतिबिम्बस्य लक्षणं किं तदुच्यते।
अन्यव्यामिश्रणायोगात्तद्भेदाशक्यभासनम्।
प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा॥ (*तन्त्रालोक*-3/56)

23. नैवं तल्लक्षणाभावाद्बिम्बं किल किमुच्यते।
अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं मुखं यथा। (*तन्त्रालोक*-3/53)

शोधछात्रा, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

हाउस नं0-205/1, पुरानी तहसील
काली माता मन्दिर रोड़, रूड़की
हरिद्वार (उत्तराखण्ड) पिन-247667
दूरभाष—8949546426

पातञ्जल योग शास्त्र में वर्णित समापत्तियों का भावागणेश की दृष्टि से समीक्षात्मक अनुशीलन

प्रो. संगीता विद्यालङ्कार

समापत्ति

व्यासभाष्य में 'समापत्ति' शब्द का पारिभाषिक अर्थ—भावनाविशेष रूप संप्रज्ञात समाधि किया गया है। समापत्ति शब्द का स्पष्ट लक्षण न देने से अधिकांश पाठक समापत्ति को सम्प्रज्ञात योग के पर्याय रूप में अंगीकार कर लेते हैं। वस्तुतः दोनों में मौलिक अन्तर है। भावागणेश ने संप्रज्ञातयोग तथा समापत्ति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—ध्येयातिरिक्त सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का निरोध यदि संप्रज्ञातयोग है, तो समापत्ति ध्येयातिरिक्त निरुद्धवृत्तिक चित्त के विषयों की साक्षात्कार की अवस्था है।[1] सर्वार्थग्रहणसमर्थ चित्त की प्रतिबन्धरूपिणी राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों का निरोध होने पर ग्रहीतादि ध्येय विषयों में चित्त की साक्षात्कारवृत्ति स्वतः हो जाती है। भावागणेश का मत है कि जिस प्रकार स्वभाव से स्वच्छ, निर्मल स्फटिक मणि बाह्य मल के अपगम होने पर रक्त, पीत तथा नीलादि वर्णविशिष्ट जपाकुसुम अथवा अन्य सन्निकृष्ट वस्तु के सान्निध्य से उस-उस उपाधि के रूप में उपरक्त होकर तत्-तत् उपाधि के आभा से भासित होती है। उसी प्रकार राजस तथा तामसवृत्ति रहित चित्त भी ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीतृरूप अवलम्बन से उपरक्त हुआ ग्राह्याकार, ग्रहणाकार तथा ग्रहीताकार रूपों में आकारित होकर तत्-तत् रूपों में भासित होता है।[2] भावागणेश के मत में 'ग्रहीतृ' पद पुरुषसामान्य का बोधक है।[3]

ग्रहणं व गृह्यतेऽनेनेति- ग्रहण पद की व्युत्पत्ति करते हुए भावागणेश[4] ने कहा है कि ग्रहण शब्द त्रयोदश करण- पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, अहंकार, बुद्धि तथा अन्तरिन्द्रिय मन- का बोधक है तथा 'ग्राह्य' पद स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर अर्थात् यथासंख्य पंचमहाभूत, पंचतन्मात्र तथा प्रकृति का वाचक है। उनका कहना है कि स्थूल एवं सूक्ष्म विषयों का अभाव होने के कारण अस्मितविषयक समापत्ति एक प्रकार की कही गयी है।[5] भावागणेश ने विज्ञानभिक्षु की भांति ग्रहण-विषयक समापत्ति के विषय 'आनन्द' को बुद्धि का धर्म मानकर उसका अन्तर्भाव ग्राह्य सूक्ष्मविषयिणी निर्विचार समापत्ति में किया है। इस प्रकार भावागणेश ने कुल मिलाकर पांच समापत्तियाँ मानी हैं। विषयों के आधार पर सूत्रकार ने समापत्ति के तीन भेद किये हैं[6]—

1. ग्राह्यविषयक समापत्ति
2. ग्रहणविषयक समापत्ति
3. ग्रहीतृविषयक समापत्ति

विषयों के स्थूलत्व तथा सूक्ष्मत्व को लेते हुए विज्ञानभिक्षु तथा वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों में समापत्ति-संख्याविषयक मतभेद हैं। वाचस्पति मिश्र ने ग्राह्यविषयक चार (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार एवं निर्विचार) ग्रहणविषयक दो (सानन्दा एवं निरानन्दा) ग्रहीतृविषयक दो (सास्मिता एवं निरास्मित)- कुल आठ समापत्तियाँ मानी हैं।[7] विज्ञानभिक्षु ने वितर्कादि चार समापत्तियों के अतिरिक्त एक ग्रहीतृविषयक समापत्ति को स्वीकार कर समापत्ति की संख्या पांच अंगीकार की है।[8] ग्रहणविषयिणी समापत्ति का अन्तर्भाव ग्राह्यविषयक निर्विचार समापत्ति में किया है। ग्राह्यविषयक स्थूलसूक्ष्म समापत्ति को प्रायः सभी टीकाकारों ने स्वीकार किया है। मतभेद ग्रहण तथा ग्रहीतृविषयक समापत्ति विषय में है।

त्रिविध समापत्तियों के अन्तर्गत स्थूलविषयक सवितर्क तथा निर्वितर्क समापत्ति का क्रमशः निरूपण किया जाता है—

सवितर्क समाप्ति—भावागणेश का कहना है कि सवितर्क समापत्ति शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के चिन्तन से आरम्भ होती है। 'गौः' यह शब्द है, 'गौः' यह अर्थ है, तथा 'गौः' यह ज्ञान है—एतद्विषयक शब्द, अर्थ तथा ज्ञानरूप त्रिविध विकल्पों का अभेदभ्रम ही सवितर्क समापत्ति है।[9] सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो तीनों के धर्म भिन्न-भिन्न हैं। 'गौः' शब्द कण्ठस्थित उदात्तादि धर्मवाला, 'गौः' अर्थ शृंगसास्नादियुक्त जड़त्व एवं मूर्तत्व आदि धर्म वाला तथा 'गौः' ज्ञान चित्तस्थित प्रकाशकल्प, एवं मूर्तित्व आदि धर्मवाला है।[10] 'गौः' शब्द का उच्चारण करने पर शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों की अभिन्न प्रतीति होती है। इस प्रतीति के तीन विकल्प हो सकते हैं। जैसे—शब्द की प्रधानता में शब्द तथा ज्ञान और ज्ञान की प्रधानता में शब्द और अर्थ गौणरूपेण संश्लिष्ट रहते हैं। इस प्रकार सवितर्क सभापति में वस्तु का विशुद्ध, विकल्पशून्य, यथार्थज्ञान नहीं हो पाता है। इसलिए भावागणेश ने इसको 'अपर प्रत्यक्ष' संज्ञान से उपहित[11] किया है और सवितर्क एवं निर्वितर्क समापत्ति को सविकल्पक तथा निर्विकल्पक योग कहा है। शब्द अर्थ तथा ज्ञान से संकीर्ण योग सविकल्पक योग और उपर्युक्त संकीर्णता से रहित योग 'निर्विकल्पक योग' है। भावागणेश का कहना है कि बौद्धों ने किञ्चिद् धर्मपुरस्कृत योग को 'सविकल्पक योग' तथा किञ्चिद् धर्मरहित योग को निर्विकल्पक योग की जो संज्ञा प्रदान की है, वह अप्रमाणिक होने से सर्वथा उपेक्षणीय है।[12]

इस प्रकार भावागणेश भी वेदान्त प्रभावों से मुक्त नहीं रह पाये हैं। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक-वेदान्त शब्दावली का उन्होंने यथास्थान प्रयोग किया है।

निर्वितर्क समापत्ति—स्थूलविषयक तथा शब्द अर्थ एवं ज्ञान के विकल्प (अभेदाध्यास) से शून्य समापत्ति 'निर्वितर्क समापत्ति' है।[13] सूत्रकार ने स्मृति की परिशुद्धि अर्थात् आगम एवम् अनुमान प्रमाण के

कारणभूत शब्द संकेत रूप स्मृति के दूर होने पर, ग्राह्यरूप ध्येय 'अर्थ' को ही प्रकाशित करने वाली अतएव स्वरूपशून्य अर्थात् ग्रहणाकार ज्ञानात्मक रूप से रहित चित्तवृत्ति को 'निर्वितर्क समापत्ति' की संज्ञा प्रदान की है।[14] निर्वितर्क समापत्ति में भासित होने वाला पदार्थ यथार्थ (वास्तविक) होता है। भावागणेश का कहना है कि सवितर्क समापत्ति के शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की विकल्पयुक्त प्रतीति में शब्दसंकेतस्मृति ही मूलकारण है। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा समापत्ति (साक्षात्कारता) की उत्पत्ति होती है। उनमें श्रवण संकेत स्मरण का कार्य करता है। संकेत द्वारा शब्द तथा अर्थ का अभेद आक्षेप होने से संकेतस्मृतिजन्य शब्दबोध में भी शब्द तथा अर्थ का अभेदाध्यास होता है।[15]

भावागणेश निर्वितर्क समापत्ति में दत्तचित्त साधक के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जब चित्त स्थूलभूत अथवा इन्द्रिय का चिन्तन करते-करते ध्येयार्थ पर केन्द्रीयभूत हो जाता है और ध्येयार्थ के आवेशवशात् चित्त शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्परूप संकेतस्मृति से रहित हो जाता है, उस चित्त में ग्रहणाकार रूप से रहित स्वरूपशून्य (नहीं के बराबर) समापत्ति की उत्पत्ति होती है, क्योंकि उस काल में शब्द और ज्ञान का स्फुरण न होने से दोनों का अभेद आरोप असंभव होता है। अतः उस काल में ध्येयार्थ का अवगाहन करने वाली विकल्पशून्य समापत्ति की ही निर्वितर्क संज्ञा है। यह समापत्ति लेशमात्र भी अविद्या से मिश्रित न होने से 'पर प्रत्यक्ष' कहलाती है।[16]

दोनों समापत्तियों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

1. सवितर्क समापत्ति शब्दसंकेतस्मरणपूर्वक होती है और निर्वितर्क समापत्ति शब्दसंकेतस्मरण से रहित होती है।
2. सवितर्क समापत्ति ग्राह्य एवं ग्रहण उभयविषयात्मक होती है, जबकि निर्वितर्क केवल ग्राह्यविषयक होती है।
3. सवितर्क समापत्ति ग्रहणाकार ज्ञानचित्तवृत्तिरूप है और निर्वितर्क ग्रहणाकार ज्ञानरहित केवल ग्राह्य अर्थाकार चित्तवृत्तिरूप है।

सवितर्क समापत्ति शब्द अर्थ तथा ज्ञानरूप संकीर्णविषयक होने से विकल्पवृत्तिरूप है और निर्वितर्क उक्त संकीर्णता से रहित मात्र अर्थविषयक होने से यथार्थज्ञानरूप है।

सविचार समापत्ति—स्थूलविषयक चिन्तन करने के उपरान्त साधक क्रमशः सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता है। सविचार समापत्ति सूक्ष्मविषयिणी तथा देश, काल एवं निमित्त पूर्वक होती है।[17] भावागणेश ने सविचार समापत्ति को शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्पों से शून्य माना है। क्योंकि स्थूलविषयिणी निर्वितर्क समापत्ति में साधक यथेष्ट विकल्पों को त्याग कर ही सूक्ष्मविषयिणी उत्तरभूमिका में प्रवेश करता है।[18] अतः पूर्वोक्त विकल्पों का होना असंभव है। वाचस्पति मिश्र तथा भोजदेव सविचार समापत्ति को सूक्ष्म तथा देश,

काल एवं निमित्तपूर्वक तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्होंने प्रस्तुत समापत्ति में सवितर्क की भांति शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्पों को भी स्वीकार किया है।[19]

भावागणेश का मत दोनों से भिन्न है। उनके अनुसार स्थूल कार्य से उपरक्त सूक्ष्मविषयिणी समापत्ति कार्यकारणभाव घटित होने के कारण 'सविचार' कही जाती है।[20]

निर्विचार समापत्ति—सूक्ष्मविषयक चिन्तन करते-करते साधक की जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि उसे शब्द तथा ज्ञान के विकल्प से शून्य मात्र ध्येयार्थ का ही बोध हो, वह अवस्था 'निर्विचार समापत्ति' कही जाती है।[21]

शंका हो सकती है कि 'सूक्ष्म' पद से क्या अभिप्राय है? और इस सूक्ष्मता का पर्यावसान कहाँ होता है।

भावागणेश ने 'सूक्ष्मश्चासौ विषयश्चेति सूक्ष्मविषयः' अर्थात् सूक्ष्म विषय है इसके, इस प्रकार 'सूक्ष्म' पद का निर्वचन करते हुए सूक्ष्मता का पर्यवसान 'अलिङ्ग' नामक प्रकृति तत्त्व में माना है।

शंका होती है कि पुरुष भी सूक्ष्म है तो इसकी गणना प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में ही क्यों नहीं की जाती है?

शंका-समाधानार्थ भावागणेश ने कहा है कि पुरुष सूक्ष्म होते हुए भी निष्क्रिय है। यहाँ 'सूक्ष्मता' से तात्पर्य तत्त्वान्तर प्रकृतितत्त्व से है अर्थात् प्रकृति महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र -तत्त्वान्तर पदार्थों से है। पुरुष तत्त्व को सूक्ष्म तत्त्व के अन्दर समाविष्ट करने पर 'अष्ट प्रकृति' सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा।[22]

निर्विचार समापत्ति को चरमावस्थाकाल में योगी के चित्त में अध्यात्मप्रसाद का उदय होता है, जिसकी दूसरी अन्वर्थ संज्ञा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' है।[23] सवितर्क, निर्वितर्क और सविचार- त्रिविध समापत्ति काल में अविद्या विद्यमान रहने से बुद्धिवृत्ति यथार्थविषयक नहीं होती है, किन्तु योगज ऋतम्भरा प्रज्ञा में अविद्या का लेशमात्र भी संपर्क नहीं रहता है। फलस्वरूप रजोगुण और तमोगुण से रहित योगी के चित्त में सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति का उदय होता है। 'अध्यात्म' पद की परिभाषा करते हुए भावागणेश ने कहा है कि आत्मा में बुद्धि का अन्तर्भूत हो जाना ही 'अध्यात्म' है।[24] उस निर्मल अध्यात्म के उदय हो जाने पर चित्त प्रयत्नान्तर बिना पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है।

अस्मिता समापत्ति- अस्मिता समापत्ति में साधक प्रथम जीवात्मा तदनन्तर परमात्मा का साक्षात्कार करता है।[25] इस समापत्ति में साधक शुद्ध परमात्मा का साक्षात्कार करता है, अहंकारोपररक्त (विशिष्ट) पुरुष का नहीं। क्योंकि औपाधिक पुरुष का बोध तो निर्विचार समापत्ति में हो जाता है। भावागणेश ने ग्रहणविषयक आनन्द समापत्ति को बुद्धि का धर्म मानते हुए उसे पृथक् अंगीकार न करके निर्विचार समापत्ति के अन्तर्गत समाविष्ट किया है।[26] क्योंकि प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार तो निर्विचार समापत्ति के अन्तर्गत ही हो जाता है।

अतः भावागणेश समापत्तियों की संख्या पांच स्वीकार करते हैं, जबकि इनके पूर्ववर्ती व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र ने समापत्तियों की संख्या आठ स्वीकार की है। एक अन्य मतभेद समापत्तियों की सबीजता को लेकर है। भावागणेश समापत्तियों में दुःखनिवृत्तिबीजरूप संस्कार के विद्यमान रहने से, संस्कारों के कारण वृत्तिनिरोधरूप योग की सबीजता को स्वीकार करते हैं।[27] अतएव उन्होंने ग्राह्य विषयक (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार) समापत्ति को ही सबीज माना है। वाचस्पति मिश्र[28] 'ता एव सबीजः समाधिः' सूत्र को भिन्न क्रम—'ताः सबीजः समाधि एव' में मानकर 'एव' पद का सूत्रकार तथा भाष्यकार[29] से भिन्न अन्वय करके ग्राह्यविषयक चार, ग्रहणविषयक दो तथा ग्रहीताविषयक दो—इस प्रकार का विभाजन करके अपने मत में स्वीकृत आठों समापत्तियों को सबीज मानते हैं। एतद्विपरीत भाष्यकार ने 'ताः चतस्रः समापत्तयः' लिखकर स्पष्टतः 'चतस्रः' पद का प्रयोग किया है, 'अष्टन्' पद का नहीं। ग्राह्यविषयक समापत्तियाँ प्रकृति आदि बाह्य वस्तु के आलम्बरूप बीजवाली हैं। अतः समाधि भी सबीज होगी। इस सन्दर्भ में विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र के मत में निम्नङ्कित दोषों की उद्भावना की है—

1. वाचस्पति मिश्र के अनुसार समापत्ति की सबीजता को सिद्ध करने पर सूत्रकार की न्यूनता सिद्ध होगी। क्योंकि उन्होंने ग्रहीत्रादि समापत्तियों को सबीज नहीं बताया है।[30]
2. सूत्रस्थ 'एव' पद की व्यर्थता सिद्ध होगी।
3. यथाक्रम 'एवकार' पद को भिन्न क्रम से रखकर अर्थ करना अनुचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार समापत्तियाँ पांच है, यह मत न्यायसंगत प्रतीत होता है। इस प्रकार भावागणेश ने भी अपने गुरु विज्ञानभिक्षु के मत का अनुसरण करते हुए समापत्तियों की संख्या पांच ही मानी है।

सन्दर्भ

1. क्षीणवृत्तेर्निरूद्धध्येयातिरिक्तवृत्तेर्निष्पन्नसंप्रज्ञातयोगस्येति यावत्। 85

   समापत्तिरिति च साक्षात्कार परिभाषा। तथा च यतश्चित्तं स्वतः एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विषयान्तरव्यासङ्गदोषादेव तत्प्रतिबद्धमते वृत्त्यन्तरनिरोधरूपे प्रतिबन्धापगमे सति ग्रहीत्रादिषु ध्येयेषु समापन्ति साक्षात्काररूपवृत्तिः चित्तस्य स्वतः एव भवति। सा च तत्स्थतदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य चित्तस्याशेषविशेषैः सम्यक् तदाकारतारूपत्यर्थः। — भा.ग.वृ.पृ. 47।
2. यथाऽभिजातस्येव स्वभावतो निर्मलस्य मणेर्बाह्यमलापगमे सन्निकृष्टवस्त्वाकारता तद्वदित्यर्थः। — भा.ग.वृ.पृ. 47।
3. अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम्। — भा.ग.वृ.पृ. 47।
4. ग्रहणं च गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्या करणसामान्यं त्रयोदशविधं। ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधम्। पञ्चभूत पञ्चतन्मात्र प्रकृतिरूपम्। तत्र ग्रहीतृसमापत्तौ स्थूलसूक्ष्मविषयकत्वरूपविशेषाभावात् सा एकविधैव। — भा.ग.वृ.पृ. 47।
5. आनन्दस्य बुद्धिधर्मत्वेनानन्दसमापत्तेर्ग्रहणसमापत्तावेव प्रवेशः। — भा.ग.वृ.पृ. 53।
6. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता-समापत्तिः। — यो.सू. 1/41।

7. तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयो ग्रहीतृग्रहणयोश्चचतस्रः इत्यष्टौ सिद्धा भवन्ति इति निगद व्याख्यातं भाष्यं। — त.वै. 123।

8. ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काद्याश्चसस्रः पञ्चमी च गृहीतृष्विति। — यो.वा.पृ. 134।

9. तत्र समापत्तिसामान्ये गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यादिरूपैः शब्दार्थज्ञानानां ये विकल्पा अभेदभ्रमाः तत्प्रयुक्ता गवादिस्थूलसमापत्ति विपरीत्तर्कयोगात्सर्वितर्क संज्ञेत्यर्थः। — भा.ग.वृ.पृ. 48-49।

10. विभज्यमानश्चान्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये ज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः। — व्या.भा. 131।

11. पूर्वसूत्रोक्ता च समापत्तिरपरं प्रत्यक्षमविषयलेशत्वादिति। — भा.ग.वृ.पृ. 501।

12. अतएव तत्कालीनयोग एव सविकल्प इत्यप्युच्यते। विकल्पसंकल्पसंकीर्णत्वात्। एतद्विकल्पशून्य एव च निर्विकल्प योग इति। एतेन यदाधुनिकाः आहुः - यत्किञ्चिद्धर्मपुरस्कारेणैव प्रवर्तमानो योगः सविकल्पकः, निर्धर्मकश्च निर्विकल्प इति- तदप्रमाणिकत्वादुपेक्षणीयम्। — भा.ग.वृ.पृ. 49।

13. एतद्विकल्पशून्य एव च निर्विकल्प योग इति। —भा.ग.वृ.पृ. 99।

14. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। — यो.सू. 1/42

15. पूर्वसूत्रे यो विकल्प उक्तास्तत्र शब्दसङ्केतस्मृतिरेव बीजम्। श्रवणमननिदिध्यासनैर्हि समापत्तिर्जायते। तत्र श्रवणं संकेतस्मरणकार्यम्। सङ्केतश्च शब्दार्थयोर्विकल्पताभेदमात्र इत्यतः सङ्केतस्मृतिजन्येशाब्दबोधोऽपि तयोरभेद उपनीतत्वाद्भासते। — भा.ग.पृ.वृ. 49.50।

16. यदा तु ध्येयावेशवशात्तस्था विकल्परूपायाः सङ्केतस्मृतेः परिशुद्धिरपगमो भवति, समापत्तिश्च स्वरूपशून्येव जायमाना भवति, तदा शब्दज्ञानयोस्फुरणेनाभेदारोपा संभवात् अर्थमात्रनिर्भासा ध्येयार्थमात्रावगाहिनी विकल्पशून्या स्थूलसमापत्तिनिर्वितर्क-संज्ञेत्यर्थः। इयं समापत्तिः परं प्रत्यक्षमुच्यते अविद्यालेशेनाप्यसंपर्कात्। — भा.ग.वृ.पृ. 50।

17. तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यवतधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। — व्या.भा.पृ. 141।

18. अत्र हि विकल्पतच्छून्यत्वयोर्नातिदेशः। स्थूलविषयिष्यां निर्वितर्काख्यपूर्वभूमिकायां त्यक्तस्य यथोक्त-विकल्पस्य सूक्ष्मविषयिण्यामुत्तरभूमिकायामसंभवादिति। — भा.ग.वृ.पृ. 51।

19. (क) उपसंहरति एवमिति। उभयोरात्मनश्च निर्विचारायश्चेति। — त.वै.पृ. 119।

(ख) शब्दार्थविषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्माधवच्छिन्न सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा। —यो.वृ.पृ. 51।

20. तत्र स्थूलरूपं तत्कार्यं तदुपरागेण सूक्ष्मे समापत्तिः सविचाराकार्यकारणविचारघटितत्वात्। — भा.ग.वृ.पृ. 51।

21. तदुत्तरोत्पद्यमाना च केवलसूक्ष्मविषयिणी निर्विचारेति विभागः। — भा.ग.वृ.पृ. 51।

(क) सूक्ष्मश्चासौ विषयश्चेति सूक्ष्मविषयः। — भा.ग.वृ.पृ. 52।

(ख) अलिङ्गाख्यप्रकृतिपर्यन्तम्। — भा.ग.वृ.पृ. 52।

22. सूक्ष्मत्वं तत्त्वान्तरप्रकृतित्वम्। न च जलादिचतुष्टयेऽतिव्याप्तिः भूतानामुत्तरोत्तरभूतेष्वाधारकाणमात्रत्वात् तन्मात्राणामेव भूतोपादानत्वात्, अन्यथाष्टप्रकृतिसिद्धान्त विरोधादिति। — भा.ग.वृ.पृ. 52।

23. (क) निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। — यो.सू. 1/47।

(ख) ध्येयगताशेषविशेषप्रतिबिम्बोदग्राहिणी निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्यम्। निर्विचारसमापत्तेरेव वैशारद्ये सति अध्यात्मप्रसादो भवति। — भा.ग.वृ.पृ. 54।

24. आत्मनि बुद्धौ वर्तते इत्यध्यात्मम्। तादृशप्रसादो नैर्मल्यं भवति। येन प्रसादेन पुरुषादिसाक्षात्कारस्तद्योगं विनापि भवति। — भा.ग.वृ.पृ. 54।

25. सा च जीवात्मविषया परमात्मविषया चेति द्विधा। — यो.वा.पृ. 57।

26. आनन्दस्य बुद्धि धर्मत्वेनानन्दसमापत्तेर्ग्रहणसमापत्तावेव प्रवेशः। — भा.ग.वृ.पृ. 53।

27. समापत्तीनां दुःखनिवृतिबीजसंस्कारहेतुत्वात् तद्धेतोर्वृत्तिनरोधरूपस्य योगस्यापि सबीजत्वम्। — भा.ग.वृ.पृ. 53।

28. तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयोः ग्रहीतृग्रहणयोश्च चतस्रः इत्यष्टौ ते भवन्तीति। — त.वै.पृ. 123।

29. (क) ताः एव सबीजः समाधि। — यो.सू. 1/46।

(ख) ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तु बीजा इति समाधिरपि सबीजः। — व्या.भा.पृ. 146।

30. ग्रहीत्रादि समापत्तेः सबीजत्वानवत्त्याऽत्र सूत्रकारस्य न्यूनतापत्तेः, एकारवैयर्यात्त्व, यथाक्रमस्यैवैवकारस्योपपत्तौ भिन्नग्रभात्वानौचित्याच्चेति।

संस्कृत विभाग
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, ज्वालापुर
हरिद्वार (उत्तराखण्ड) -249407
दूरभाष : 9411100359

वैदिक आग्नेयास्त्र

डॉ. हर्षदेव माधव

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥ — *ऋग्वेद*, 1-99-1

हम सर्वज्ञ अग्निदेवता के लिए सोमसवन करते हैं। वह अग्नि देवता हमारे विरुद्ध आचरण करनेवाले शत्रुओं के धन का नाश करें और जिस तरह नौका दुष्टतर नदी के पार ले जाती है, वैसे ही हमें संसार के सभी दुःखों के पार ले जाओ।

ऋग्वेद के यह मन्त्र के ऋषि मारीच है। अग्नि या जातवेद अग्नि देवता है एवं त्रिष्टुप छंद है। यह मन्त्र चवालीस अक्षरों का है। शास्त्रग्रन्थों में यह मन्त्र 'आग्नेयास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध

(*शारदातिलक तन्त्र*- 21-32-33 हरनारायण पंड्या कृत *श्रीसूक्त दीपक*, पृ.80)

प्राचीन भारत में रामायण, महाभारत और अन्य ग्रन्थों में दिव्य अस्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। *रामायण* के *बालकांड* में विश्वामित्र ऋषि के द्वारा राम को मंत्रों के द्वारा अनेक अस्त्रों को चलाना सिखाया ऐसा उल्लेख भी मिलता है। दिव्य अस्त्र मंत्रों के द्वारा सिद्ध होते हैं और मंत्रों के द्वारा ही वह आकर कार्य पूरा करके चले जाते हैं। रामने इसी तरह अनेक दिव्य अस्त्र मन्त्र के माध्यम से प्राप्त किये थे।

'आग्नेयास्त्र' से प्रचलित यह मन्त्र साधक की सभी कामनाएँ परिपूर्ण करता है, ऐसा भी विधान है। आत्मा भी अग्नि का ही रूप है। ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति से शरीर में दिव्य अग्नि की अनुभूति होती है। अग्नि क्रियाशीलता का प्रतीक है। आत्मजागृति के लिए निरंतर अभ्यास और प्रयास जरूरी है। जातवेदस् यानी कि जो प्रत्येक चैतन्य के अंश में रहेता है, जो प्रत्येक चैतन्य को जानता है वह। जातवेदस का यह मन्त्र हमें कल्याण की ओर ले जाता

हमारे ऋषिमुनिओं ने मंत्रों के अनेक रहस्यों को छुपा के रखा है। यह मन्त्र के अठारह विभाग है। जैसे कि—(1) जातवेदसे (2) सुनवाम (3) सोमम् (4) अराती यतः (5) नि (6) दहाति (7) वेदः (8) सः (9) नः (10) पर्षत् (11) अति (12) दुर्गाणि (13) विश्वा (14) नावाऽइव (15) सिन्धुम् (16) दुरिता (दुःइता) (17) अति (18) अग्निः।

यह मन्त्र के नौ अक्षरों से हृदय में, सात अक्षरों से शिर में, छ अक्षरों से शिखा में, सात से कवच में, आठ अक्षरों से आंखों में और सात अक्षरों से अस्त्र न्यास करना चाहिए। देखिए—

(1) जातवेदसे सुनवाम — हृदयाय
(2) सोममरातियत: - शिरसे
(3) निदहाति वेदः — शिखायै वषट्
(4) स: नः पर्षद अति — कवचाय हुम्
(5) दुर्गाणि विश्वा नावेव — नेत्रत्रयाय वौषट्
(6) सिन्धुं दुरितात्यग्नि: — अस्त्राय फट्

इसी क्रम में करादिन्यास करना है—

मन्त्र के अक्षरों का न्यास :

जात — दो पैर के अंगूठे
वेद — दो टखने
से सु — दोनों जाँघ
न वा — दो घुटने
म सो — दो जाँघ
म — कमर
अम — लिंग
राति — दो स्तन
यतो — दो बाजूएं
निद — दो पीठ
हाति — दो कंधे
वे — गला
दः स — दो बाहुमूल
न: प — दो उपबाहु (बाहुमूल और कुहनी का मध्यभाग)
र्ष द — दो कुहनी
तिदु — दो प्रकोष्ठ अर्थात् कोहनी से नीचे की भुजा
र्गाणि — दो मणिबंध (दो कलाईया)
विश्वा — दो हथेलियाँ
नावा — मुख

इव — दो नासिका
सिन्धु — दो आंखे
दुरि — दो कान
तात् — ललाट
अ — मस्तक
ग्नि: — मूर्धा

यह मन्त्र के पदन्यास

यह मन्त्र के अठारह पद है, उसमें—

जातवेदसे — शिखा
सुनवाम — ललाट
सोमम् — नेत्र (आंख)
अरातियतः — दो कान
नि — होंठ
दहाति — जीभ
वेद: — कंठ
स: — बाहु
न:- हृदय
पर्षत् – कुक्षि (पेट)
अति — कटि (कमर)
दुर्गाणि — गुह्य (गुप्त इंद्रिय)
विश्वा — दो जाँघ
नावाऽइव — दो घुटने
सिन्धुं — दो जांघ
दुः इता — दो पाँव
अति — दो कान
अग्नि — दो आँख

ऐसे ही पदन्यास करने है।

आग्नेयास्त्र का ध्यान मन्त्र :

दुर्गासप्तशती के बारहवें अध्याय में दुर्गा का जो ध्यानमन्त्र है वो ही आग्नेयास्त्र का ध्यानमन्त्र है। यह मन्त्र अधोनिर्दिष्ट है—

विद्युद्दामसमप्रभां मृगपतिस्कन्धस्थितां भीषणां
कन्याभिः करवालखेटविलसद्धस्ताभिरासेविताम्।
हस्तैश्चक्रदरासिखेटविशिखान् चापं गुणं तर्जनी
बिभ्राणामनलात्मिकां शशिधरां दुर्गां त्रिनेत्रां स्मरेत् ॥

अर्थात् बिजली जैसी चमकते शरीर की कांतिवाली, सिंह के कंधे पर सवार होने के कारण अत्यंत भीषण, जिनकी सेवा हाथ में तलवार और ढाल धारण करनेवाली कन्याएँ करती है ऐसी अपने हाथ में चक्र, शंख, तलवार, ढाल, बाण, धनुष्य, पाश और तर्जनी मुद्रा को धारण करनेवाली अनलात्मिका यानी कि अग्निस्वरूप चंद्रकलाधारिणी त्रिनेत्रा दुर्गा का स्मरण करना चाहिए।

यह मन्त्र के 44 हज़ार जप करने चाहिए। उसके बाद तिल, सफेद सरसों चित्रकमूल और क्षीरवृक्षों की समिधा से घी और खीर के साथ दशांश होम करना चाहिए। इसी तरह आग्नेयास्त्र सिद्ध कर सकते हैं। इसकी पूजाविधि *शारदातिलकतन्त्र* के इक्कीसवें पटल में वर्णित हैं। चवालीस हज़ार जप के बाद विलोम पद्धति से मन्त्र करने से आग्नेयास्त्र सिद्ध होता है। प्रतिलोम करते वक्त न्यास भी प्रतिलोम पद्धति से करने चाहिए।

इसी तरह ऋग्वेद का यह मन्त्र बहुत-सी सिद्धियाँ देता है और सभी मनोकामनाएं पूर्ण करता है। यह मन्त्र का दूसरे मंत्रों के साथ विनियोग करने से अन्य दुर्लभ विद्याएं भी सिद्ध होती है। केवल जातवेद मन्त्रजप भी कल्याणकारक है।

इस मन्त्र के अनुष्ठान के बाद तांत्रिक पूजा-पद्धति का वर्णन *शारदातिलकतन्त्र* में है। उसे गुरुपरंपरा के अनुसार करना चाहिए।

'जातवेदस्' मन्त्र सब से उत्तम मन्त्र माना जाता है। अग्नि चैतन्य, आत्मशक्ति, क्रियाशक्ति, आयुष्य, ओजस्, बल इत्यादि के प्रदाता देवता है। यह मन्त्र सभी मनोकामनाओं को सिद्ध करने के लिए उत्तम है।

8, राजतिलकबंगलोज़,
ममता हॉस्पिटल के सामने,
आबादनगर बस स्टॉप समीप,
बोपल, अमदावाद-380058
मो. 94276 24516, 7874532225

सनातन परम्परा में प्रेतत्त्व भाव से मुक्ति का विधान

डॉ. तारेश कुमार शर्मा

संस्कृत साहित्य सांसारिक जीवन के तात्त्विक उपलक्ष्यों के सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज के भव्य विचारों का रुचिर दर्पण है। संसार की क्लेश भावना जीवों को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह जीव **'भवदीय'** नहीं बन जाता है। भगवज्जन होते ही मोह की बेड़ी खुल जाती है और जीव ज्ञान की मीठी स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽधिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।।[1]

भारतीय समाज सनातन संस्कृति को वर्ष-वर्षान्तरों से मानता आ रहा है। जिसमें रीति-रिवाजों, संस्कारों और अनेक धार्मिक आस्थाओं का समावेश होता आया है। अद्यतन समाज आधुनिक चकाचौंध और पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण में अपनी सभ्यताओं और परम्पराओं को भूलकर आचार्य बृहस्पति के मत को मानने वाले चार्वाक के सिद्धान्तों का आश्रय लेता नजर आ रहा है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?।।[2]

यदि हम समालोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं, तो पाते हैं कि चार्वाक नास्तिक है। 'वेदनिन्दको नास्तिकः' अर्थात् वेदों की निन्दा करे, वह नास्तिक कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिसकी वेदों में आस्था न हो वह नास्तिक है। यदि किसी शिष्य की गुरु के प्रति और पुत्र की पिता के प्रति, राजा की प्रजा के प्रति और सेवक की स्वामी के प्रति आस्था न हो तो उसे अयोग्य, गर्हित, निन्दनीय और पतित समझा जाता है। चार्वाक, पुत्र के द्वारा अपने पितरों के सन्दर्भ में किये जाने वाले श्राद्ध का खण्डन करता है—

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिवारिता।।
स्वर्गस्थिता यदा तृप्ति गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते॥[3]

अर्थात् विदेश जाने वाले लोगों के लिए पाथेय (मार्ग का भोजन) देना व्यर्थ है, घर में किये गये श्राद्ध से ही रास्ते में तृप्ति मिल जायेगी। स्वर्ग में स्थित (पितृगण) यदि वहाँ दान कर देने से तृप्त हो जाते हैं तो महल के ऊपर बैठे हुए लोगों को यहीं क्यों नहीं दे देते हैं? अभिप्राय यह है कि महल की छत पर बैठे व्यक्ति को नीचे खड़ा व्यक्ति भोजन दिखा दे तो क्या ऊपर बैठा व्यक्ति क्षुधा से तृप्त हो सकता है? अर्थात् तृप्त नहीं हो सकता तो फिर तर्पण और श्राद्ध करने का क्या प्रयोजन?

वस्तुतः चार्वाक का यह कथन उसी प्रकार प्रतीत होता है जैसे यह कहावत—'**आप न जावे सासुरे औरन कूँ दे सीख।**' स्वयं बृहस्पति आस्तिक थे। वे कहते हैं—

अधीत्य सर्ववेदान् वै सद्यो दुःखात् प्रमुच्यते।

बृहस्पति स्मृति के चतुर्थ काण्ड का नाम 'श्राद्धकाण्ड' है, जिसमें श्राद्ध और तर्पण का अनेकों प्रकार से वर्णन किया गया है।

यदि हम शास्त्रोक्त विधि से अन्त्येष्टि क्रिया न करें, और्ध्व-दैहिक क्रिया न करें, घर में गरुड़ पुराण का पाठ न करायें और समयोचित पितरों को पिण्ड प्रदान न करें, श्राद्ध और तर्पण न करें तो क्या भला जीवात्मा को प्रेतयोनि से मुक्ति मिल सकती है? अर्थात् मुक्ति कभी नहीं मिलती है। जीव प्रेतयोनि में जब विचरण करता है तब क्षुधा और तृषा के कारण छटपटाता है। इसी कारण प्रेत दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, परेशान करता है। प्रेत का मुंह सुई की नोंक के समान और उदर हाथी के आकार का होता है। वह चाह करके भी स्वादिष्ट पदार्थों (व्यंजनों) का लुफ्त नहीं उठा पाता है।

गरुड़ पुराण के 'प्रेतकल्प' के सप्तम अध्याय में वर्णन आता है कि वैश्य जाति का 'सुदेव' प्रेतयोनि को प्राप्त हो जाता है। वह बभ्रुवाहन नाम के राजा से कहता है कि भूख-प्यास आदि दुःखों से प्रेतपन मेरे लिए दुःसह है। इस वन में स्वादिष्ट शीतल जल तथा फल हैं, किन्तु भूख से पीड़ित मैं उन फलों को नहीं पाता हूँ और प्यासा होकर कहीं जल भी नहीं पी पाता हूँ—

स्वादुकन्दफलं चाऽस्ति वनेऽस्मिञ्छीतलशिवम्।
न प्राप्नोति क्षुधार्तोऽहं तृषार्तो न जलं क्वचिद्॥[4]

इस प्रकार प्रेत का मुँह बहुत छोटा और पेट विशाल होने के कारण वह हमेशा तड़पता रहता है। इसलिए मृतक का श्राद्धकर्म करना आवश्यक है। दूसरों के दिए हुए श्राद्ध से प्रेत भी उत्तम गति को प्राप्त हो जाता है तो पुत्र द्वारा दिये हुए श्राद्ध से पिता सद्गति को प्राप्त हो जाये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

श्राद्धेन परदत्तेन गतः प्रेतोऽपि सद्गतिम्।
किं पुनः पुत्रदत्तेन पिता यातीति चाद्भुतम्॥[5]

हिन्दू धर्म संस्कारों में षोडश संस्कार हैं, जिनमें अन्त्येष्टि संस्कार अन्तिम है। इस संस्कार को पितृमेध, अन्त्यकर्म, दाह-संस्कार, श्मशान कर्म और और्ध्व-दैहिक क्रिया कहते हैं। यदि जीव की और्ध्व-दैहिक क्रिया न की जाये तो वह प्रेतत्त्व को प्राप्त हो जाता है। प्रेतत्त्व भाव से मुक्ति के सन्दर्भ में सुदेव राजा बभ्रुवाहन से अपनी और्ध्व-दैहिक क्रिया और षोडश मासिक श्राद्ध करने के लिए कहता है ताकि वह प्रेतयोनि से मुक्त हो जाए—

मम वै संततिर्नास्ति न सुहृन्न च बान्धवः।
न च मित्र हि मे तादृग्यः कुर्यादौर्ध्वदैहिकम्॥
यस्य न स्यान्महाराज श्राद्धमासिकषोडशम्।
प्रेतत्वं सुस्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि।।[6]

मेरे कोई सन्तति नहीं, बन्धु-बान्धव नहीं और ऐसा कोई मित्र नहीं जो और्ध्व-दैहिक क्रिया (पर लौकिकी क्रिया) करे। हे महाराज! जिनका षोडश मासिक श्राद्ध नहीं होता है, सैकड़ों श्राद्ध करने पर भी उनका प्रेतत्त्व स्थिर ही रहता है अर्थात् जाता नहीं है।

महाकवि कालिदास भी और्ध्व-दैहिक क्रिया और पिण्डदान आदि करने के पक्ष में है। राजा अज अपने पिता रघु की और्ध्व-दैहिक क्रिया कर पिण्डदान करते हैं—

अकरोत्स तददौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।
न हि तेन तथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः।।[7]

अर्थात् पिता के श्राद्ध के विधान (विधि) को जानने वाले अज ने पिता में भक्ति होने के कारण से, पिण्डदानादि श्राद्धकर्म किया, न कि श्राद्ध के फल की इच्छा से, क्योंकि योगमार्ग से शरीर त्यागने वाले पुरुष पुत्र से दिये गये पिण्डतिलोदक की इच्छा नहीं रखते हैं। वे तो मुक्त हो जाते हैं। इन्दुमती के देहावसान पर भी इसी प्रकार के भाव प्रकट किये हैं।

अज अपनी पत्नी इन्दुमती के देहावसान होने पर शोक करते हैं तब गुरुजन अज को पत्नी का तर्पणादि करने को कहते हैं—

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रुकिलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते।।[8]

अर्थात् तुम शोक रहित मन वाले होकर अपनी पत्नी को पिण्डदान तर्पणादि से तृप्त करो। ऐसा न करने पर निरन्तर अपने बन्धुओं के आँसू परलोक में गए (मरे) हुए को सन्ताप देते हैं। (प्रकर्षेण इतः - गतः प्रेतस्तं प्रेतं - मृतं दहति (सन्तपति) इति प्रचक्षते (कथ्यन्ति) मन्वादयो धर्मशास्त्रकारा इति शेषः) इससे मनु आदि

धर्मशास्त्रकारों की ओर भी सङ्केत किया है। अतः स्मृति ग्रन्थों में भी तर्पण और श्राद्धकर्म के द्वारा प्रेतत्त्व भाव से मुक्ति का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है—

श्लेष्माश्रुबन्धुभिर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः।।[9]

मृगराजलक्ष्मा कवि 'भट्टनारायण' ने भी इसी प्रकार के भाव '*वेणीसंहार*' नाटक के तृतीयाङ्क में प्रकट किये हैं। द्रोणाचार्य की मृत्यु (वध) होने के पश्चात् कृपाचार्य अश्वत्थामा को अपने पिता का श्राद्धकर्म और तिलाञ्जलि प्रदान करने को कहते हैं—

वत्स, यावदयं संसारस्तावत् प्रसिद्धवेयं लोकयात्रा यत् पुत्रैः पितरो लोकद्वयेऽप्यनुवर्तनीया इति। पश्य—

निवापाञ्जलिदानेन केतनैः श्राद्धकर्मभिः।
तस्योपकारे शक्तस्त्वं किं जीवन् किमुतान्यथा॥[10]

अर्थात्—पुत्र, जब तक यह संसार है, तब तक यह लौकिक व्यवहार प्रसिद्ध ही है कि पुत्रों को पितरों का दोनों लोकों में अनुसरण करना चाहिए। देखो—तिलाञ्जलि का समर्पण गृहदान और श्राद्ध कर्मों से उनका कल्याण करने में तुम जीवित रहने पर समर्थ होते हो अथवा तुम जीवित रहने पर समर्थ रह सकते हो अथवा प्राण परित्याग करने पर?

नारायण की स्वर्णमयी प्रतिमा के पूर्व भाग में श्रीधर, दक्षिण में मधुसूदन, पश्चिम में वामन देव और उत्तर में गदाधर की स्थापना करें। मध्य में पितामह (ब्रह्मा) तथा महेश्वर देव का विधानपूर्वक गन्ध पुष्प आदि से पृथक् पृथक् पूजा करें। उसके बाद प्रदक्षिणा करके और अग्नि में देवताओं को तृप्त करके घी, दही और दूध से विश्वेदेवों को तृप्त करें। उसके बाद स्नान किया हुआ विनीतात्मा यजमान सावधान होकर नारायण के समान और्ध्व-दैहिक क्रिया करें।[11] कृष्ण वर्ण प्रेत का दर्शन अमंगलकारी होता है—

कृष्णवर्णकरालास्य प्रेतत्वं घोरदर्शनम्॥[12]

मृत्यु के उपरान्त और्ध्वदैहिक क्रिया, पिण्डदान, षोडशत्रय और तर्पण आदि करने पर प्रेत पितरों की पंक्ति में प्रवेश करता है—

पितृपङ्क्तिप्रवेशार्थे कारयेत्षोडशत्रयम्।
एतच्छ्राद्धैर्विहीनश्चेत्प्रेतो भवति सुस्थिरम्॥[13]

मृत जीव को पितरों की पंक्ति में प्रवेश करने के लिए षोडशत्रय करावे, इस श्राद्ध से जो हीन है, वह सुस्थिर 'प्रेत' होता है। जब प्रेत पितरों की पंक्ति में प्रवेश कर जाता है तब श्राद्ध करने से पितृगण प्रसन्न हो जाते हैं, जैसे बैल अपना भाग प्राप्त करके मदमस्त हो जाते हैं, पुष्ट हो जाते हैं, वैसे ही पितृगण अपना भाग पाकर पुष्ट एवं मदमस्त हो जाते हैं—

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत।।[14]

जब पितर प्रसन्न होते हैं तो श्राद्ध करने वाले यजमान के बालक का गर्भ में पोषण करते हैं—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषो सत....।।[15]

सभी प्राणी मृत्यु पश्चात् यम के पास क्यों जाते हैं? इसके उत्तर में हम पाते हैं कि यम मरणधर्मा मनुष्यों में उत्पन्न हुए थे। सबसे पहले उन्हीं की मृत्यु हुई थी। इसके पश्चात् ये दूसरे लोक में पहुँचे। यम सूर्य के पुत्र हैं। सभी प्राणी मृत्यु के पश्चात् इन्हीं के पास जाते हैं—

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतत्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यतः।।[16]

यम ने सबसे पहले हमारे मार्ग को जाना। यह मार्ग अपसरण अर्थात् छुटकारे के लिए नहीं है। इस मार्ग से छुटकारा नहीं पाया जा सकता है। जहाँ पर हमारे पूर्वज पितर गए हैं, इस मार्ग को न जानने वाले प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार जाते हैं—

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या3अनु स्वा...।।[17]

हे प्रेत! जिस अर्थी को मनुष्य उठाते हैं, उससे यम के मार्ग को गमन करो। तुम्हारे पूर्व पुरुष इसी मार्ग से गए हैं। वहाँ देवताओं में अग्नि के समान कर्म करने वाले वरुण और यम दोनों हैं। वे हमारे द्वारा दी गई हवियों से प्रसन्न हो रहे हैं। इस लोक में तुम यम और वरुण का दर्शन करोगे—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूणिर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
उभा राजानी स्वधया मदन्ती यमं पश्यसि वरुणं च देवम॥[18]

हे प्रेत पुरुष! मैं अपने मन के द्वारा तेरे मन को इस लोक में बुलाता हूँ। जिन घरों में तेरे लिए और्ध्वदैहिक अर्थात् देह त्याग के बाद कर्म किया जाता है, तू हमारे उन घरों में जा तथा संस्कार के बाद पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के साथ सपिण्डीकरण की विधि के अनुसार मिल। यम के पास पहुँचा हुआ तू पितृलोक में जाकर श्रम को दूर करने वाली वायु को प्राप्त कर—

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहां उप जुजुषाण एहि।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शम्माः॥[19]

मृतक के अन्त्येष्टि संस्कार से पूर्व अथवा मृत्यु के बारहवें या तेरहवें दिन बछिया दान किया जाता है। *अथर्ववेद* का यह मन्त्र इसी बात की पुष्टि करता है—

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम्।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासद्जीवन।।[20]

हे प्रेत! मैं तेरे निमित्त गोदान करता हूँ। मैं तेरे लिए दूध से बना जो भात देता हूँ, उसके द्वारा तू यमलोक में अपने जीवन को पुष्टि करने वाला हो।

प्रेत का विधि-विधान से अन्त्येष्टिक्रिया, और्ध्व-दैहिक क्रिया और षोडश त्रय किया जाता है उस प्रेत के कुल में उत्पन्न नारियाँ वैधव्य से हीन, श्रेष्ठ पतियों वाली होती हुई घृत से मिले हुए अञ्जन से स्पर्श करने वाली होती है। ये आँसू न बहाने वाली, रोग रहित और शोभन आभरण वाली होकर सन्तान को जन्म देने के लिए स्वस्थ होती हैं—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराजनेन सर्पिषा संस्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे।।[21]

सुख प्राप्ति के लिए पितरों से अनेकों प्रकार की कामनाएँ की गई हैं। जिनका उल्लेख अथर्ववेद की ऋचाओं में बहुधा हुआ है। पूजा के योग्य कण्व, कक्षीवान्, पुरुमीद, अगस्त्य, श्यावाश्व, सौभरि, विश्वामित्र, जमदग्नि, अग्नि, कश्यप, वामदेव नाम वाले अनेक ऋषि हमारे रक्षक हैं। महर्षि अत्रि ने हमारे घर रक्षा करना स्वीकार कर लिया है। हे पितरों! तुम हमारे नमस्कारादि के द्वारा पूजने योग्य हो, तुम हमें सुख प्रदान करो—

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु कश्यपो वामदेवः।।
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव।
शर्दिनो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः।।[22]

अथापि च—

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरै पथिभिः पूर्याणैः।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हवित्तुं सुप्रजसः वीराः।।[23]

हे सोमरस प्राप्त करने के अधिकारी पितरों! तुम पितृयानों से अपने लोक को गमन करो तथा अमावस्या के दिन हवि भक्षण करने हेतु हमारे घर पुनः आना, हमारे घर शोभन पुत्रों और उत्तम वीरों से युक्त हो।

बालक नचिकेता ने भी प्रेतविद्या के रहस्य को जानकर आत्मतत्त्व के ज्ञान प्राप्त्यर्थ तृतीयवर यमराज से माँगा था—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽऽस्तीत्येके चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।[24]

कुछ विद्वान् जो यह शङ्का करते हैं कि मनुष्य के मर जाने पर वह आत्मा विद्यमान रहता है एवं कुछ कहते हैं कि वह नहीं रहता। अतः इस संशय को दूर करने के लिए ही मैं आप द्वारा उपदिष्ट होकर इस आत्मतत्त्व को जान लूँ (यही) मेरा तृतीय वर है।

वर्तमान जीवन में जो मनुष्य अवसाद, कुण्ठा और मानसिक तनाव आदि के कारण आत्महत्या कर लेते हैं वे आत्महन्ता लोग प्रेतभाव को प्राप्त होते हैं। गहन अंधकार से आवृत्त लोक में निहित क्लेशों, दुःखों और पीड़ा को भोगते हैं। अत: वे बार-बार प्रेतत्त्व को प्राप्त होते हैं। अतः आत्महत्या करना पाप है। इसी पक्ष को *ईशावास्योपनिषद्* का यह मन्त्र पुष्ट करता है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥[25]

अर्थात् असुर सम्बन्धी (जो) वे अतिगहन अन्धकार (अज्ञान) से आच्छादित लोक हैं, जो कोई भी आत्मा के (वास्तविक) स्वरूप को न जानने वाले (आत्महन्ता) लोग हैं, वे स्थूल शरीर का त्याग करके उन ही लोकों में बार-बार जाते हैं।

इस प्रकार हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण को त्याग कर सनातन संस्कृति के विधानों को शास्त्रोक्त विधि से जानकर और प्रेत विज्ञान के रहस्यों (गोदान, कपाल क्रिया, और्ध्व-दैहिक क्रिया, षोडशत्रय, सपिण्डीकरण आदि) को प्राप्त कर हम तत्-तद्भाव (प्रेतत्त्व) से मुक्त हो सकते हैं।

सन्दर्भ

1. *भागवतपुराण* (दशम स्कन्ध) 14/36
2. *चार्वाक दर्शन*-1 (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 3)
3. *सर्वदर्शनसंग्रह* (चार्वाकमतसार-16/17), पृ. 21
4. *गरुड़ पुराण* - प्रेतकल्प, 7/44
5. तत्रैव, 7/68

6. *गरुड़ पुराण* (प्रेतकल्प) - 7/40-41, पृ. 79-80
7. *रघुवंशम्*, 8/26, पृ. 611 (व्याख्याकार-जनार्दन पाण्डेय)

   ऊर्ध्वदेहिकम् - देहादूर्ध्व भवतीति तत्तिलोदकपिण्डदानादिकमकरोत्।

   'ऊर्ध्वं देहाच्च' इति वक्तव्याट्टक्प्रत्ययः अनुशातिकारित्वाद् उभयपदवृद्धिः। — (सञ्जीवनी टीका - मल्लिनाथ)
8. तत्रैव, 8/86, पृ. 665
9. *याज्ञवल्क्यस्मृति* (प्रायश्चिताध्याय) - 111
10. *वेणीसंहारम्* 3/18, पृ. 127
11. *गरुडपुराण* (प्रेतकल्प) - 7/50-54, पृ. 71
12. तत्रैव, 7/32
13. तत्रैव, 12/68, पृ. 147
14. *यजुर्वेद*, 2/31, पृ. 47
15. तत्रैव, 2/33
16. *अथर्ववेद*, 18/3/13
17. तत्रैव, 18/1/50
18. तत्रैव, 18/1/54
19. तत्रैव, 18/2/21
20. तत्रैव, 18/2/30
21. तत्रैव, 18/3/57
22. तत्रैव, 18/3/15-16
23. तत्रैव, 18/4/63
24. *कठोपनिषद्*, प्रथमाध्याय 1/20
25. *ईशावास्योपनिषद्*, 3

मूल ग्रन्थ

1. *यजुर्वेद*- व्याख्याकार- डॉ. रेखा व्यास, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली-110001, संस्करण 2015
2. *अथर्ववेद* - व्याख्याकार डॉ. गंगासहाय शर्मा, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली-110001, संस्करण 2015
3. *ईशावास्योपनिषत्*-डॉ. विजय शङ्कर पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-110001, संस्करण 2015
4. *कठोपनिषद्*- डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन, जयपुर-302001, संस्करण 2015

5. *गरुड़ पुराण* (प्रेतकल्प)- हिन्दी टीका सहिता, प्रेमराज श्रीकृष्णदास, 91/109, खेमराज श्रीकृष्णदासमार्ग, 7वी खेतवाडी बैंक रोड, कॉर्नर, मुम्बई - 400004, संस्करण सितम्बर 2019

6. *रघुवंशमहाकाव्यम्*- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1987, व्याख्याकार-जनार्दन पाण्डेय

7. *वेणीसंहारम्*- डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी, दिनेश प्रसाद तिवारी, साहित्य भण्डार (शिक्षा साहित्य प्रकाशक), मेरठ - 250002, नवीन संस्करण 1998

8. *सर्वदर्शनसंग्रहः*- प्रो. उमाशङ्कर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-221001, संस्करण 2014

9. *संस्कृत साहित्य का इतिहास*- आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी-221010, दशम संस्करण-पुनर्मुद्रण 2001

10. *संस्कृत हिन्दी कोश*- वामन शिवराम आप्टे, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2010

वरिष्ठाध्यापक-संस्कृत रा.व.मा.वि.
लिबासपुर, दिल्ली-110042
Email:-kumartaresh82@gmail.com Mob.No.:9810869055

समकालीन दार्शनिक चिन्तन में मोक्ष की अवधारणा

प्रो. (डॉ.) सुशिम दुबे

मुख्य-शब्द—पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, मुक्ति

संक्षेप-सार—प्रस्तुत आलेख में स्वामी विवेकानन्द, सर्वपल्ली राधाकृष्णनन्, गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर, मोहनदास करमचन्द गाँधी एवं श्री अरविन्द के विशेष सन्दर्भ में मोक्ष की अवधारणा का विचार एवं विश्लेषण किया गया है। समकालीन दार्शनिकों ने मोक्ष की अपनी व्याख्याओं में समाज सापेक्ष, तथा वर्तमान समय में आवश्यकतानुरूप नए तथ्यों का भी समावेश किया है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने संसार त्याग की निवृत्तिपरक व्याख्याओं के आलोचन में कर्मसंन्यास के बजाए कर्मफलसन्यास पर बल दिया हैं। उनके अनुसार अपने अज्ञान एवं सीमाओं से आबद्ध रहना, परिसीमित रहना ही दुःखों का कारण एवं बंधन का स्वरूप हैं। अतः इन सीमाओं का ज्ञान एवं अपने स्वरूप को समझकर उसके अनुरूप बरतना मोक्षावस्था का भावात्मक पहलु है। इस रूप में मोक्ष बंधन-नाश के साथ-साथ व्यक्तित्त्व एवं चेतना के आयामों में स्वतन्त्रता एवं सर्जनात्मकता के उदय का भी प्रतीक हैं। समकालीन विचारकों के विशिष्ट विवेचन हैं. उन्होंने मोक्ष के धनात्मक पक्ष असीम स्वतन्त्रता, सृजनात्मकता एवं आनन्दमयता को विशेष महत्त्व दिया है।

मोक्ष शब्द 'मुच्' धातु से निष्पन्न है, जिससे आशय है, 'छूटना', छूटकारा पाना। 'मुच्यते सर्वदुःखैर्बन्धनैर्यत्र सः मोक्षः' से भी जिसको पाकर सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाये, उसे मोक्ष कहते हैं। भारतीय परम्परा में मोक्ष को सामान्यतः ऐसी स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सभी दुःखों, बन्धनों, कर्मों, पापों, फलों तथा कामनाओं से रहित हैं। इसे भाव रूप से अखंड-आनन्द की अवस्था भी कहा गया है। मोक्ष को अपवर्ग भी कहा गया है- 'अपकृष्टाः वर्गा धर्मार्थकामा यस्मात् सः अपवर्गाः' जिसके सामने तीनों पुरुषार्थ निम्न कोटि के प्रतीत होते हैं, उसको अपवर्ग कहते हैं। इस दृष्टि से मोक्ष को परम पुरुषार्थ भी कहा गया है।

मोक्ष को निःश्रेयस भी कहा गया है। 'निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्'- अर्थात् जीव का जो फल निश्चित है, जो कभी नष्ट नहीं होता।

समकालीन चिंतकों द्वारा वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा सर्वमुक्ति की अवधारणा का प्रतिपादन विशिष्ट रहा हैं। अधिकांश समकालीन चिंतक इस पक्ष को विशेष महत्त्व देते प्रतीत होते हैं कि वस्तुतः सभी व्यक्ति इस

सत्य स्वरूप ब्रह्म की यथार्थ अभिव्यक्ति हैं, सभी में ब्रह्म का अनिवार्य तत्त्व एवं 'सत्य' 'शिव' एवं 'शुभ' विद्यमान हैं। तो सभी के लिए अपने मूल स्वरूप की प्राप्ति या 'मुक्ति' भी अनिवार्य तथा सहज हैं। विवेकानन्द, राधाकृष्णन् आदि विचारक वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा सभी के लिए मुक्ति के आदर्श को प्रतिपादित करते हैं। श्री अरविंद मानवमात्र के पूर्ण आंतरिक परिवर्तन के द्वारा असीमित क्षमता एवं संभावनाओं से युक्त 'दिव्य जीवन' की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं तथा आध्यात्मिक चेतना के प्रकृति पर्यन्त अवतरण की मान्यता को प्रतिपादित करते हैं। गांधी प्रभृति विचारक 'सत्य' के राज्य या 'रामराज्य' के रूप में सत्यानुसंधानी समाज की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।

विवेकानन्दके अनुसार मोक्ष या मुक्ति

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक युग में वेदान्तिक विचारधारा के पोषक माने जाते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में भारत के आध्यात्मिक प्रकाश को फैलाया तथा वैश्विक एकता की विचार धारा का प्रतिपादन किया। वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय उनके अनुसार—''.....विश्व का एकत्व, विश्व बन्धुत्व नहीं वरन् में भी वैसा हूँ, जैसा कि एक मनुष्य है, एक जानवर है। सब परिस्थितियों में एक ही देह, एक ही मन और एक ही आत्मा है।''[1] अतः वेदान्त दर्शन का सार है, सत् केवल एक ही है। प्रत्येक आत्मा-पूर्णतया वही सत् है, उस सत् का अंश नहीं है। यह सत् एवं आत्म एक ही हैं। विवेकानन्द इसके साथ यह भी कहते हैं ''जड़ पदार्थ, मन और आत्मा में सचमुच कोई अन्तर नहीं है वे उस 'एक' की अनुभूति के स्तर मात्र हैं।''[2] इस परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण विश्व उस अनिवार्य सत्ता की अभिव्यक्ति है। जगत् की विविध नामरूपता वस्तुतः माया है जो अन्तिम विश्लेषण में उसमें निहित एक सत्य पर ही ठहरती है इस दृष्टि से यह जगत् मायोपाधिक कहा जा सकता है।

इस प्रकार अपने अस्तित्व एवं विश्व के मूल तत्त्व के विषय का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान हैं। संसार के भोग में पड़कर हम अपने मूल स्वरूप को नहीं देख पाते। विवेकानन्द इस सन्दर्भ में संसारिक सुख तथा दुःख दोनों की आलोचना करते हैं, ''सुख और दुःख दोनों ही जंजीरें हैं, एक स्वर्णिम दूसरी लौह, किन्तु दोनों ही बाँधने के लिये एक समान दृढ़ हैं और अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार करने से हमें रोकती हैं।''[3]

विवेकानन्द ने अपनी वेदान्तिक विचारधारा में जहाँ मूलभूत 'सत्' की प्राप्ति को परम आदर्श निरूपित किया है वहीं उसके लिये उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा के ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्ग सभी को मोक्ष प्राप्ति के लिये सक्षम बताया। उनके अनुसार ये सभी आत्म परमात्म की एकता या योग को प्रतिपादित करते हैं। वे योग का आशय भी इसी के अनुरूप देते हैं, ''योग का अर्थ है मनुष्य और ईश्वर को जोड़ने की पद्धति...।''[4] और इस पद्धति के रूप में ''हमारा प्रत्येक योग किसी दूसरे योग की सहायता से मनुष्य को पूर्ण बना देने में समर्थ है क्योंकि उन सबका लक्ष्य एक ही हैं। कर्म-योग, ज्ञान-योग, भक्ति-योग सभी मोक्ष लाभ को लिये सीधे और स्वतन्त्र उपाय हो सकते हैं.....यद्यपि ऊपर से ये योग एक दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं अन्त में वे मानवीय पूर्णता के एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं।''[5] विवेकानन्द यहाँ विभिन्न मार्गों को

स्वीकृति प्रदान करते हैं क्योंकि संसार में भिन्न-भिन्न वृत्तियों के अनुकूल ही ये योग विभिन्न व्यक्तियों के लिये श्रेष्ठ मार्ग या उपयुक्त मार्ग होते हैं।

ज्ञान योग के अनुसार विवेकानन्द आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये कहते हैं, ''आत्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है पर जिसका केन्द्र किसी शरीर में है मृत्यु केन्द्र का स्थानान्तरण मात्र है। परमात्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं पर जिसका केन्द्र सर्वत्र हैं।''[6]

विवेकानन्द के अनुसार हमारा वास्तविक स्वरूप शुभ है, मुक्त है, विशुद्ध सत् है, जो न तो कभी अशुद्ध हो सकता है और न अशुद्ध किया जा सकता है।[7] इसी वास्तविक सत् स्वरूप की अनुभूति ही ज्ञान योग का चरम लक्ष्य है और इस ज्ञान के बिना मोक्ष लाभ नहीं हो सकता।

इस प्रकार ज्ञान मार्ग के अनुसरण के लिये विवेकानन्द कहते हैं, ''पहले ध्यान निषेधात्मक प्रकार का होना चाहिये। हर वस्तु को विचारों को निकाल बाहर करो.....तदुपरान्त आग्रहपूर्वक उसका स्थानापन्न करो, जो हम वस्तुतः हैं सत् चित आनन्द और प्रेम''[8], अन्ततः आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान योग को पूर्णतः प्रदान कर देता हैं।

विवेकानन्द के अनुसार भक्ति योग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग हैं। ''भक्ति योग वस्तुतः उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। वह हमें दर्शाता है कि हम प्रेम को ठीक रास्ते पर कैसे लगायें.....अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था कैसे प्राप्त करें''[9] भक्ति वस्तुतः आराध्य के प्रति अनन्य प्रेम, शरणागति एवं पूर्ण समर्पण का नाम है। इन्हीं भावनाओं को सघन बनाकर परमात्मा से ऐक्य को प्राप्त कर लेना ही भक्ति योग का लक्ष्य हैं। विवेकानन्द कहते हैं ''भक्ति हृदय को ईश्वर रूपी प्रेम सागर के दैवी सलिल से भर देती हैं''[10] और परमात्मा के प्रेम में भक्त अपने लिये कोई इच्छा नहीं करता बल्कि पूर्ण समर्पण भाव से वह अराध्य के प्रति समर्पित रहता हैं।

''शरणागति और प्रपत्ति की इस अवस्था से भक्त की सब प्रकार की आसक्ति समूल नष्ट हो जाती हैं। प्रेमात्मिका भक्ति समस्त बन्धों को छिन्न कर देती है।''[11] इस प्रकार आराध्य की तैलधारावदवछिन्न अनुभूति भक्त एवं भगवान् को एक कर देती है।

कर्मयोग, कर्म के रहस्य का ज्ञान है विवेकानन्द के अनुसार कर्म का रहस्य यह है कि ''निरन्तर कर्म करो, परन्तु कर्म में आसक्ति का त्याग कर दो,''[12] कर्मयोग का सर्वोच्च आदर्श है- निरंतर और सम्पूर्ण आत्म त्याग, जिसमें किसी प्रकार का मैं नहीं, केवल 'तू' ही 'तू' हैं। विवेकानन्द कहते हैं, ''हमारे जाने या बिना जाने कर्मयोग हमें इसी लक्ष्य की ओर ले जाता है''[13] इस प्रकार क्षुद्र अहं भाव का त्याग तथा समस्त कर्मों को अनासक्ति रहित भाव से परमात्मा में अर्पण करना ही कर्मयोग के अनुसार बन्धन से छूटना है। वस्तुतः कर्मयोग संसार के त्याग की शिक्षा न देकर संसार में रहकर ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

कर्मयोगी का आदर्श, विवेकानन्द दीपक की उपमा से देते हैं। जिस प्रकार दीपक सतत जलकर समाप्त होता जा रहा है और यही उसका जीवन हैं[14] उसी प्रकार निःस्वार्थ कर्म द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग हैं[15] विवेकानन्द के दर्शन की यह विशेषता रही है कि उन्होंने सभी मार्गों को वस्तुतः विशिष्ट विज्ञान माना है। इसी के अनुरूप राजयोग के सम्बन्ध में वे कहते हैं, यह विज्ञान मन के विश्लेषण तथा अतीन्द्रिय जगत् के तथ्यों का संकलन करता हैं।[16] इसके साथ ही इसमें मानसिक एवं शारीरिक नियन्त्रण एवं अनुशासन का विशेष महत्त्व है। विवेकानन्द यहाँ पर पतञ्जलि योग के अनुरूप राजयोग के अन्तर्गत अष्टांग मार्गों को इस योग की प्राप्ति हेतु प्रस्तावित करते हैं।[17]

गाँधीजी के अनुसार मोक्ष या मुक्ति

गाँधी जी अपने आपको सत्य का साधक मानते रहे हैं। उनका दर्शन, विचार एवं समग्र जीवन सत्य की साधना एवं प्रयोगों के प्रति ही समर्पित रहा कहा जा सकता है। गाँधी जी ने सत्य को ईश्वर स्वरूप कहा हैं। इस सम्बन्ध में वे इतने दृढ़ हैं कि स्पष्ट कहते हैं, ''यदि कोई मुझसे पूछे ब्रह्म कहाँ है, कैसा है, तो मैं उसके प्रश्न को बदलकर पूछूँगा कि सत्य कहीं हैं? कैसा है? सत्य ही ब्रह्म है।''[18]

गाँधी जी सनातन हिन्दू विचारधारा एवं मान्यताओं के प्रति गहरी श्रद्धा रखते थे। इसी के अनुरूप वे सत्य को निर्गुण रूप से ब्रह्म एवं सभी में निहित अनिवार्य सत्य के रूप में भी देखते हैं उनके अनुसार इसे जानना वस्तुतः जीवन का लक्ष्य भी है-

"The purpose of life is undoubtedly to know one self, we can not do it unless we learn to identify ourselves with all that lives. The sum totality of that life is God."[19]

इस प्रकार सभी में निहित अनिवार्य सत्य का दर्शन ही जीवन का परम उद्देश्य हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये गांधी जी राजनैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अहिंसा को ही साधन के रूप में प्रस्तावित करते हैं,

"Truth is the goal. But we have no mean of realizing Truth in human relationship except through the practice of Ahimsa."[20]

परन्तु गाँधी जी के अनुसार यद्यपि सत्य के अनुशीलन का साधन अहिंसा है तथापि ये दोनों अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि आपस में अनुस्यूत हैं। इसके साथ ही गाँधी जी सत्यार्थी के आचरण में शुचिता, पवित्रता, सत्य निष्ठता पर भी विशेष बल देते हैं क्योंकि—

"Impure means result in an impure end. One can not reach truth by untruthfulness. Truthful conduct alone can reach truth."[21]

गाँधी जी की ईश्वर के सगुण स्वरूप पर गहरी आस्था थी तथा जीवन में सत्य प्राप्ति के लिये ईश्वर को उन्होंने अपना पथ प्रदर्शक माना है, उनका कथन हैं—

"I am a man of faith. My reliance is solely on God. One step is enough for me, the next step he will make clear to me when the time for it comes."[22]

परन्तु गाँधी जी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है और इस ईश्वर की अनिवार्य अभिव्यक्ति सभी जीवों में निहित है। यदि जीव चाहे तो उस ईश्वर के स्वर को अपने अन्दर सुन सकेगा। गाँधी जी इसके लिये कुछ प्रारम्भिक एवं निश्चित अर्हताओं को आवश्यक मानते हैं।[23]

गाँधी जी के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञानप्राप्ति जीवन साधना का विषय है तथापि आध्यत्मिक ज्ञानप्राप्ति, ज्ञान न होकर हृदय का विषय है।[24] इसकी प्राप्ति रूप में मोक्ष को गाँधी जी ने एक प्रकार से अनन्त सत्ता की प्राप्ति हेतु अनन्त सागर में छलांग के समान भी बताया है। व्यावहारिक रूप में उन्होंने दीन-हीनों की सेवा, प्रेम स्नेह तथा करूणा के रूप में सत्याग्रही होने का आदर्श ही प्रस्तुत किया हैं। वे इस सम्बन्ध में कहते हैं—

".....to see the universal and all pervading spirit of truth face, one must be able to love the meaniest of creation as oneself."[25]

गाँधी जी का सत्यानुशीलन के लिये भजन एवं प्रार्थना पर भी विशेष आग्रह था तथा उन्होंने इसे ईश्वर प्राप्ति का एक साधन भी माना है उनके अनुसार प्रार्थना से व्यक्ति सत्य एवं ईश्वर से सहज ही निकटता प्राप्त करता हैं।[26]

गाँधी जी का दर्शन साध्य-साधन तथा सर्वोदय का विचार समाहित रखता है इसके लिये उन्होंने संन्यासी एवं जगत् त्यागी के जीवन के रूप में मुमुक्षा के आदर्श को स्वीकार नहीं किया है उन्होंने दीन-हीन, देश, राष्ट्र एवं मानव सेवा को ही अपने लिये आदर्श मार्ग निरूपित किया है जो मोक्ष की ओर उन्मुख होता हैं। उनका कथन है—

".....for me the road to salvation lies through incessant toil in the service of my country and there through humanity. I want to identify myself with thing that lives."[27]

रवीन्द्रनाथ टैगोर के चिन्तन में मोक्ष

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन में आध्यात्मिकता तथा काव्यात्मक सौन्दर्य, दोनों का अद्भुत संयोग देखा जा सकता है। इसी के अनुरूप वे कहते हैं—

"Reality is the expression of personality, like a poem, like a work or art."[28]

गुरूदेव टैगोर अपने दर्शन को कवि का दर्शन भी कहते हैं, परन्तु उनके लेखन में मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं में उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि निहित देखी जा सकती है। उनके अनुसार मानव का स्वरूप द्विविध है जो कि असीम तथा ससीम दोनों का संयोग है तथा उसका अपनी इस सीमितता से असीम स्वरूप को पाने का प्रयास ही अमरत्व है। गुरूदेव के अनुसार-

"It is the personality of man conscious of its inexhaustible abundance, it has the paradox in it that it is more than it self. It is more than as it is seen……..known or used. And this consciousness of the Infinite ever strives to make its expression immortal and to make the whole world its own."[29]

अतः मनुष्य की शाश्वत आन्तरिक सर्जनाशक्ति ही उसे असीमित बनाती है। यही उसका आत्म को पाने का प्रयास है, टैगोर इसी शक्ति की अभिव्यक्ति को धर्म या मानव का वास्तविक धर्म भी कहते हैं (*Religion of man*)। टैगोर के अनुसार इस धर्म का लक्ष्य वैयक्तिक आत्म तथा परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति है। यह अनुभूति सार्वभौम प्रेम एवं आनन्द की अनुभूति हैं। अतः टैगोर के चिन्तन में 'परमात्म' कोई अमूर्तभाव या नियम नहीं है। यह 'स्व' से ऊपर उठने की प्रक्रिया हैं।[30]

टैगोर पारम्परिक चिंतन के अनुरूप आत्म परमात्म ऐक्य (अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप) को ही चरम लक्ष्य मानते हैं। वे इस लक्ष्य की शून्यता या सभी गुणों से रहित अवस्था के रूप में आलोचन भी करते हैं। *The Religion of Man* में एक स्थल पर वे कहते हैं कि व्यक्तिगत आत्म का परमात्म में ऐक्य जो सभी विशिष्टताओं या गुणों से रहित है या ऐसी स्थिति जहां पर मन पूर्णतः रिक्त हो, सभी क्रियाओं से रहित हो जाता है या कुछ लोग इसे कहते हैं कि यह विषय रहित-सुख तथा चेतना की शुद्धावस्था है या इसे योग का अन्तिम लक्ष्य बताते हुए अनन्त और जीव का मिलन/ऐक्य कहा गया है। परन्तु टैगोर इसकी सत्यता असत्यता के विवाद में पड़े बिना कहते हैं कि यह मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में मूल्यवान् हो सकता है तथापि उनके अनुसार—

"Man is more perfect as a man than where he vanishes in an original indefinitness"[31]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि टैगोर मुक्ति या मोक्ष के उक्त सर्वनिषेध स्वरूप के पक्षधर नहीं प्रतीत होते। उन्होंने इसकी संकल्पना, अस्तित्व की गहन अनुभूति, ऐक्य के अनुभव तथा मानव में निहित स्वत्व के प्रेम में की है। उनका कथन है—

"Love is freedom, it gives us that fullness of existence….Love lights up this world with its meaning and makes life feel that it has enough everywhere"[32]

टैगोर के अनुसार प्रेम या आनन्द में व्यक्ति ऐसी व्यापक श्रेष्ठतम चेतना के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा जहाँ पर वह सभी वेदों, सभी प्रकार के द्वैत से उपर उठकर व्यापक प्रेम की अनुभूति में सभी की अनिवार्य एकता का अनुभव कर सकेगा।[33]

टैगोर ने अपने चिन्तन में संन्यास जीवन के रूप में जगत् त्याग की भी अनुशंसा नहीं की हैं। जीवन के सत्य को प्रेम में, सौन्दर्य में देखने का प्रयास किया है। यही उनकी पारम्परिक चिन्तन से विशिष्टता भी हैं।

श्री अरविन्द और दिव्य जीवन

श्री अरविन्द अपने दर्शन में मानव अस्तित्व का पूर्ण विकास 'अतिमानस' तथा 'दिव्य जीवन' के रूप में देखते हैं। श्री अरविन्द परम सत्ता के स्तरों की बात करते हैं- जो शुद्धसत् (Pure Existence) चित् शक्ति (Consciousness Force)आनन्द (Bliss), अतिमानस (Super Mind), मनस (Mind), चैतसिक मन (Psyche), प्राण (Life),जड़तत्त्व (Matter)हैं। उपमा के रूप में कहें तो अंतिम चार को निम्नतर गोलार्द्ध के अन्तर्गत लिया जा सकता है तथा प्रथम चार को उच्चतर गोलार्द्ध के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वस्तुतः ये अलग तत्त्व नहीं हैं क्योंकि मूल तत्त्व सच्चिदानन्द स्वरूप है और यह शुद्ध रूप से चित् शक्ति तथा आनन्द के खेलों में अतिमानस की क्रियात्मकता के माध्यम से ब्रह्माण्ड में अवतरित होता हैं।[34] श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि की निम्नतम या स्थूलतम अभिव्यक्त स्वरूप जड़तत्त्व (Matter)भी उसी तत्त्व का स्वरूप है जो विकास के माध्यम से अपने शुद्ध स्वरूप तक प्राप्त हो सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार यह विकास जड़ तत्त्व से प्राण, चैतसिक मन तथा मनस के उच्चतर स्तरों से आगे की ओर होता हैं।

वस्तुतः यह विकास प्रक्रिया है जो श्री अरविन्द के अनुसार जड़ तत्त्व, प्राण तत्त्व (Mind) होती हुयी मनस (Psyche) के स्तर तक पहुँच गयी है तथा इसका आगे विकास अतिमानस के स्तर में होना हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानस उच्चतर क्षेत्र में पूर्ण अद्वैत सच्चिदानन्द की अखण्ड चेतना है,[35] जब अपने को सृष्टि में अभिव्यक्त करती है तभी इसके विभिन्न रूप एवं स्थितियों होती हैं जिसे हम मनस के स्तर पर देखते हैं।

श्री अरविन्द वस्तुतः मनस से अतिमानस तक विकास सम्भव मानते हैं। वे विकास को चार स्थितियों "Higher mind", "Illumined mind", "Intuition"तथा "Overmind"के द्वारा सम्भव बतलाते हैं। अतिमानसिक चेतना में सच्चिदानन्द की अखण्ड चेतना के साथ सृष्टि या सत्ता के अन्य स्तरों की समझ या चेतना भी समाहित है। अतः अतिमानसिक परिवर्तन से श्रीअरविन्द हमारे सामान्य लौकिक जीवन

के ढंगों तथा दृष्टि में आमूल परिवर्तन को संभव बतलाते हैं। उनके अनुसार इस आमूल परिवर्तन के फलस्वरूप आत्म, मानसिक स्तर का मानव नहीं रह जाएगा, बल्कि अतिमानसिक सत्य या आत्म बन जायेगा। वह उस स्थिति में अज्ञान का क्षेत्र (जो श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि को सीमित समझने का क्षेत्र हैं) में नहीं परिसीमित रहेगा। इस स्थिति में वह ज्ञान पुरुष (Gnostic Being) बन जायेगा। श्री अरविन्द ज्ञानपुरुष के सम्बन्ध में कहते हैं-

"A completes self-knowledge in all thing and at all moments is the gift of superamental gnosis… with a complete self-mastery, not merely in the sense of control of nature, but in the sense of power of perfect self-expression in nature"[36]

श्री अरविन्द मानव के मूलभूत तथा समग्र रूपान्तरण में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार जीवन का लक्ष्य केवल मुक्ति या व्यक्तिगत सिद्धि की प्राप्ति नहीं है बल्कि विश्वगत पूर्णत्व की प्राप्ति हैं। इसके लिये श्री अरविन्द ने पूर्णयोग(Integral Yoga)की बात कही है। इस योग की यह विशेषता है कि यह व्यक्ति मात्र की मुक्ति का ही साधन नहीं है बल्कि यह मानव मात्र या प्रकृति मात्र के रूपान्तरण में भी सहायक हैं। उनका विश्वास है कि जीवन का प्रत्येक अंश सच्चिदानन्द का ही है, इसलिये प्रत्येक अंश को पूर्णता प्राप्त करनी है। जब तक शरीर, प्राण, मन तथा मनस सभी का दिव्यीकरण या उन्हें अतिमानस स्तर की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक हमारा लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। इस प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन में मानव के चरम लक्ष्य प्राप्ति में अतिमानस की अवधारणा केन्द्रीय है। जहाँ यह जड़, प्राण, मन तथा मनस का उच्चतर विकास है वहीं यह परमतत्त्व सच्चिदानन्द की सतत चेतना या परमतत्त्व का सतत ज्ञान भी है। इस प्रकार अतिमानसिक रूपान्तरण केवल वैयक्तिक रूपान्तरण नहीं होगा बल्कि इस में विश्व चेतना, विश्व क्रियायें आदि भी रूपान्तरित हो जायेंगी। यही श्री अरविन्द के पूर्ण अद्वैत योग (Integral Yoga)का चरम लक्ष्य है। जीवन जगत् का ईश्वरत्व में रूपान्तरण, ज्ञान पुरुष के रूप में दिव्य जीवन (Divine Life) का अवतरण और इस प्रकार से वैयक्तिक मोक्ष न होकर सर्वमुक्ति है।

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् एवं सर्वमुक्ति

राधाकृष्णन् के अनुसार विश्व के मूल तत्त्व की समुचित एवं अन्तिम धारणा उसके एकत्व या अद्वैत स्वरूप से ही हो सकती है। अतः निरपेक्ष सत्य आन्तरिक-भेद या स्वगत-भेद से रहित है। इसमें जो अनेकरूपता दिखायी देती है उसका कारण हमारे द्वारा सृष्टि को ओर से या सृष्टि के सापेक्षत्व से उसे देखना है। यह जगत् वस्तुतः ब्रह्म या परमतत्त्व की अभिव्यक्ति की अनन्त संभावनाओं में से एक हैं। डॉ. राधाकृष्णन् सृष्टि के सापेक्षत्व से ब्रह्म के सगुण रूप में ईश्वर की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ''यद्यपि पूर्ण ब्रह्म विशुद्ध चेतना, विशुद्ध आनन्द और असीम सम्भावना है तथापि एक विशिष्ट सम्भावना की दृष्टि से,

जिसने कि वास्तविक रूप धारण किया है, ईश्वर प्रतीत होता है।''[37] अतः यह सृष्टि ब्रह्म की यथार्थ या सत्य अभिव्यक्ति हैं। वस्तुतः पूर्ण ब्रह्म की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अति प्रवाही हो और सम्भावनाओं को साकार करें। ईश्वर और ब्रह्म में राधाकृष्णन् अन्तर करते हैं। ईश्वर इस ब्रह्माण्ड से संश्लिष्ट भाव से जुड़ा हुआ है, जबकि ब्रह्म उसमें निहित मूल स्वरूप हैं। शुद्ध निर्विकार सत्ता का स्वरूप ब्रह्माण्ड प्रक्रिया से क्षीण नहीं होता, ब्रह्माण्ड प्रक्रिया उसके स्वरूप का प्रकारान्तर है जिसके द्वारा पूर्ण सत्ता अपने आप को अभिव्यक्त करती है। सृष्टि के इस स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि वस्तुतः यही एक संभावना क्यों? इसके लिए राधाकृष्णन् का उत्तर है कि रंगमंच में दर्शक मंडली में बैठकर हम कैसे जान सकते हैं कि परदे के पीछे (नेपथ्य) में क्या हो रहा है। यह माया है और हमें आदर और श्रद्धा के साथ इसे स्वीकार करना हैं। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार मुक्ति या मोक्षावस्था में एक विश्व आत्मा की सत्ता व्यक्ति में प्रवेश करती है और व्यक्ति उसके साथ तादाम्य अनुभव कर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। जीवन के उच्चतर क्षणों में हमें ऐसे अनुभव की कभी-कभी अप्रत्याशित रूप से झाँकी मिलती है। अतः इस प्रकार के अनुभव के फलितार्थ के सम्बन्ध में हमारा कितना ही विवाद हो, हम उसकी वास्तविकता से इंकार नहीं कर सकते।

डॉ. राधाकृष्णन् मुक्ति को अतिजीविता से भिन्न बताते हैं। उनके अनुसार संसार में मोक्ष, सावधिक जीवन से नित्य जीवन की प्राप्ति स्वरूप है। इसको वह सभी व्यक्तियों के लिये अनिवार्य तथा संभाव्य मानते हैं। उनका कथन है, सभी व्यक्तियों को एक दिन अनन्त जीवन (मुक्ति) प्राप्त करना हैं।

मुक्ति के लिये डॉ. राधाकृष्णन् वैयक्तिक प्रयास को एक आवश्यक बताते हैं अतः ''यदि हम अपने भीतर ऐक्य और सहस्वरता स्थापित कर लें, शरीर और आत्मा के संघर्ष पर विजय पा लें तो हम मुक्ति की एक आवश्यकता को पूरा करते हैं। किन्तु परिवेश के साथ हमारी ऐक्य और सहस्वरता तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक उसमें अन्य आत्माएं विद्यमान हैं।''[38]

अतः डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार व्यक्ति तब तक सही अर्थों में मुक्त नहीं हो सकता जब तक उसमें निहित प्रकृति एवं स्वभावगत तत्त्व और अन्य व्यक्तियों की प्रतिस्पर्धाएं एवं उनके स्वरूप में निहित एकता और आध्यात्मिक बन्धुता एक न हो जाएं। इसलिये अपूर्ण संसार में पूर्णमुक्ति संभव नहीं हैं। जिन्होंने विश्वव्यापी परमात्मा की झाँकी पा ली है, वे तब तक संसार में कार्य करते रहते हैं जब तक संसार में असत्य, अशिव एवं असुन्दर का पूर्णतः अन्त नहीं हो जाता।

डॉ. राधाकृष्णन् वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा सर्वमुक्ति को प्रस्तावित करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि यह नहीं हो सकता कि कुछ व्यक्ति हमेशा बन्धन में पड़े रहें और कभी मुक्त न हों। इस प्रकार जब तक कुछ आत्माएं मुक्त हैं तब तक शेष मुक्त आत्माओं के पास यह कार्य रहेगा कि वह उनके लिये प्रयास एवं प्रेरणा का प्रतिमान रखें और इस कार्य तक मुक्त आत्माओं की वैयक्तिकता भी बनी रहेगी। किन्तु जब सारा विश्व मुक्त हो जाएगा अर्थात् सभी व्यक्ति मुक्त हो जाएंगे, तब कोई कार्य करना शेष नहीं रहेगा। इस रूप में ईश्वर

की एक संभावना की काल प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी।[39] इस प्रकार अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने पर संसार की अपूर्णता समाप्त हो जायेगी और तब संसार पूर्ण ब्रह्म स्वरूप होगा ईश्वर जो इस ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से संयुक्त रहता है वह इस अवस्था के आ जाने पर ब्रह्म की पृष्ठ भूमि में चला जायेगा।[40]

राधाकृष्णन् के अनुसार मुक्ति की उस अवस्था को हम तार्किक एवं बौद्धिक भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते तो भी यह स्पष्ट है कि यह पूर्ण सन्तोष एवं तृप्ति की अवस्था कही जा सकती हैं।

उपसंहार

समकालीन दार्शनिकों ने मोक्ष की अपनी व्याख्याओं में समाज सापेक्ष, तथा वर्तमान समय में आवश्यकतानुरूप नए तथ्यों का भी समावेश किया है। प्रायः सभी दार्शनिकों ने संसार त्याग की निवृत्तिपरक व्याख्याओं के आलोचन में कर्मसंन्यास के बजाए कर्मफलसंन्यास पर बल दिया हैं। बाल गंगाधर तिलक प्रभृति विचारकों ने गीता के अर्थनिरूपण में कर्ममार्ग को ही श्रेष्ठ बतलाया है। विवेकानन्द प्रभृति विचारकों ने मुक्ति प्राप्ति हेतु ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग सभी मार्गों को सक्षम-संभव मार्ग निरूपित किया हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन चिन्तकों ने जगत् में रहकर ही आत्मोत्थान के प्रयास को विशेष सराहा। गाँधी, विवेकानन्द, विनोबा आदि चिन्तकों ने सामाजिक कार्य एवं पीड़ित मानवता की सेवा को अत्यधिक महत्त्व दिया है। वे मोक्ष के मार्ग में व्यापक प्रेम के प्रत्यय को आवश्यक मानते हैं। टैंगोर गाँधी आदि विचारकों ने समन्वयात्मक रूप में मानवता एवं प्राणिमात्र से प्रेम को ही मोक्षानुभूति के तुल्य बताया हैं।

'मोक्ष' का प्राचीन परम्परा में सामान्य अर्थ दुःख निवृत्ति माना जा सकता है, परन्तु अधिकांश समकालीन चिन्तक से प्रायः मोक्षावस्था का निषेधात्मक पहलू मानते हैं। उनके अनुसार अपने अज्ञान एवं सीमाओं से आबद्ध रहना, परिसीमित रहना ही दुःखों का कारण एवं बंधन का स्वरूप हैं। अतः इन सीमाओं का ज्ञान एवं अपने स्वरूप को समझकर उसके अनुरूप बरतना मोक्षावस्था का भावात्मक पहलू है। इस रूप में मोक्ष बंधन-नाश के साथ-साथ व्यक्तित्त्व एवं चेतना के आयामों में स्वतन्त्रता एवं सर्जनात्मकता के उदय का भी प्रतीक हैं।

सन्दर्भ

1. *'क्या वेदान्त भावी युग का धर्म होगा'*, विवेकानन्द साहित्य, जन्म शती संस्करण, नवम खण्ड, अद्वैतआश्रम, अल्मोड़ा, 1962 पृ. 83
2. '*ज्ञानयोग'*, *विवेकानन्द साहित्य*, ज.सं., षष्ठ खण्ड, पृ. 243
3. '*ज्ञानयोग पर प्रवचन'*, *विवेकानन्द साहित्य*, ज.सं., षष्ठ खण्ड, पृ. 276-277
4. '*ज्ञान योग का परिचय'*, *विवेकानन्द साहित्य*, ज.सं. षष्ठ खण्ड, पृ. 248
5. '*अनासक्ति ही पूर्ण आत्म त्याग हैं'*, वि.सा.ज.सं., तृतीय खण्ड, पृ. 67
6. '*ज्ञानयोग* (1)' वि.सा.ज.सं., षष्ठ खण्ड, पृ. 242

7. '*वेदान्तदर्शन* (2)', वि.सा.ज.सं., नवम खण्ड, पृ. 74
8. '*ज्ञानयोग* (2)', वि.सा.ज.सं., षष्ठ खण्ड, पृ. 247
9. '*भक्त का वैराग्य—प्रेमजन्य*', वि.सा.ज.सं., चतुर्थ खण्ड, पृ. 48
10. वही,पृ. 50
11. *'विश्व प्रेम और उसके आत्म समर्पण का उदय',* वि.सा.ज.सं., चतुर्थ खण्ड, पृ. 75
12. '*मुक्ति*', वि.सा.ज.सं., तृतीय खण्ड, पृ. 73
13. '*अनासक्ति*', वि.सा.ज.सं., तृतीय खण्ड, पृ. 59
14. *'कर्म योगी का आदर्श'* वि.सा.ज.सं., तृतीय खण्ड, पृ. 85
15. *'मुक्ति'*, वि.सा.ज.सं. ,तृतीय खण्ड, पृ. 82
16. *'राजयोग पर छः पाठ'* वि.सा.ज.सं., चतुर्थ खण्ड, पृ. 79
17. विवेकानन्द ने पतंजलि योगसूत्र पर भाष्य लिखा है तथा यहीं पर इस योग को 'राजयोग'की संज्ञा दी है। इस योग की यम, नियम, आसन आदि अष्टांगों का वर्णन प्रस्तुत है।
18. *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय*, खण्ड-22, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1967 पृ. 287
19. *"Diary of Mahadev Desai",* p. 184, Q.f. U.S. Mohan Rao (Compiled & Edited), *The Message of Mahatma Gandhi,* Publication division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India 2nd Oct. 1968, p.4 vkxs ls Rao
20. *Harijan*, 23-6-1946; Rao, p. 9
21. *Harijan*, 13-6-1947, Rao, p. 26
22. ".....and everyone who wills, can hear the voice. It is within every one. But like everything it requires previous and definite prepation."- *Harijan*, 20-10-1940, Rao, p. 29
23. *Harijan*, 8-7-1933, Rao, p.31
24. "Spirituality is not a matter of knowing scriptures and engaging in philosophical discussions. It is matter of heart culture of unmeasurable strength."- *Young India*, 1-10-1921, Rao, p. 113-114
25. *An Autobiography or The story of My experiments with Truth*, p. 370-71, Rao, p. 25
26. "Let everyone try and find, that as a result of daily prayer, he adds some thing new to his life, something which can nothing be compared."- *Young India*, 24-9-1931, Rao, p. 45
27. *Young India*, 3-4-1924, Rao, p. 25
28. Rabindranath Tagore, *Personality*, George Allen and Unwin London, 1954, p. 69
29. *Personality*, p. 38

30. "Our greatest delight when we realize ourselves in others and this is the definition of love. This love gives us the testimony of the great whole, which is the complete and final truth of man."- The Man of My Heart', *Religion of Man*, p. 117
31. R.N. Tagore, *Religion of Man*, p. 49
32. *The Religion of Man*, p. 179
33. "Human imperfection is the cause of our sorrow, but there is a fulfillment in love within the range of our limitation which accepts all suffering and yet rises above them."- *The Religion of Man,* p. 203
34. *Life of Divine*, p. 118
35. "……supermind is the vast self-extension of Brahman that contains and develops."- *The Life Divine*, p. 120
36. *The Life Divine*, p. 864
37. राधाकृष्णन्, *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, पृ. 363
38. वही, पृ. 323
39. राधाकृष्णन्, *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि*, पृ. 360
40. वही, 360

प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग,
नव नालन्दा महाविहार (सम विश्वविद्यालय)
संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार।
भिक्षु काश्यपमार्ग,
नालन्दा-803111